'बिसामपुर का संत' और भूदान आंदोलन

(एम.फिल्. हिन्दी उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध)

2002

शोध–निर्देशक
डॉ. ओमप्रकाश सिंह

शोधकर्ता
रामचरण मीणा

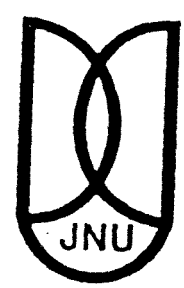

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली– 110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

25 July, 2002

Declaration

I declare that the work done in this dissertation entitled "***Bishrampur ka Sant Aur Bhoodan Andolan***" by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this, or any other University/Institution.

Ramcharan Meena
(Research Scholar)

Dr. Om Prakash Singh
(Supervisor)
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Cultural Studies

Prof. Manager Pandey
(Chairperson)
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Cultural Studies

GRAM : JAYENU TEL.: 6107676, 6167557TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

स्वर्गीय दादाजी

एवं

दादी व मम्मी–पापा के लिए...

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

भूमिका 1–4

प्रथम अध्याय 5–36

भूदान आंदोलनः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

द्वितीय अध्याय 37–57

'बिसामपुर का संत' में अभिव्यक्त भूदान आंदोलन का स्वरूप

तृतीय अध्याय 58–81

भूदान आंदोलन की प्रासंगिकता का सवाल
और 'बिसामपुर का संत'

उपसंहार 82–83

संदर्भ ग्रंथ सूची 84–86

भूमिका

मैं गाँव का रहने वाला हूँ और कृषक जीवन से मेरा गहरा रिश्ता रहा है। एक कृषक परिवार में मेरा जन्म हुआ है। मैंने किसान जीवन को न सिर्फ़ नज़दीक से देखा है वरन् उसे जिया भी है। भारतीय समाज में किसान का जीवन सम और विषम परिस्थितियों के मध्य दोलायमान होता है, यह मैंने अच्छी तरह से जाना और समझा है। भारतीय किसानों को समय–समय पर अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता है। भारतीय कृषि के बारे में यह तो मशहूर ही है कि वह जुआ है। जुआ इस अर्थ में कि यहाँ कृषि पूरी तरह मानसून पर निर्भर है। भारतीय किसान आरंभ से ही समस्याग्रस्त रहा है। उसकी समस्या बहुआयामी है। खाद, पानी, बिजली, उत्पाद का उचित मूल्य मिलने आदि की समस्याओं से तो वह ग्रस्त रहता ही है, प्रशासन के रवैये से भी वह परेशान रहता है। जब समस्याओं के भार का वहन करने में वह असमर्थ हो जाता है तो उसका सहिष्णु और भोला–भाला मन विरोध की दिशा में अग्रसर हो उठता है। हालाँकि अधिकतर यह विरोध मूक ही रह जाता है। भारत में स्वतंत्रता से पूर्व व उसके पश्चात् अनेक किसान आंदोलन परिस्थिति के अनुरूप अपना रूप आकार ग्रहण करते रहे हैं। ऐसे आंदोलन इतिहास के पृष्ठों पर ही अंकित मिलते हैं तथा उनकी जानकारी मुझे इतिहास की पुस्तकों से हुई है। लेकिन बचपन में मैंने अपने गाँव में बुजुर्गों के मुँह से भूदान आंदोलन की चर्चा सुनी थी। मेरी स्मृति में भूदान आंदोलन तभी से अंकित है। बड़ा होने पर इस बारे में मैंने कुछ साहित्य पढ़ने का प्रयत्न किया। अपनी सीमा के बावजूद इस विषय पर जो कुछ भी मिला, मैंने पढ़ा। शोध विषय चयन में इस स्मृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

जब श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'बिस्रामपुर का संत' आया तो उसकी समीक्षा 'कसौटी' पत्रिका में छपी। इसी समीक्षा के माध्यम से मुझे पता चला कि यह उपन्यास भूदान आंदोलन की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इस जानकारी के बाद स्वाभाविक रूप से इस उपन्यास की तरफ मेरी रूचि जाग्रत हुई। तत्काल मैंने इस उपन्यास को कई

बार पढ़ा। इस उपन्यास ने मुझे गहराई से प्रभावित किया। क्योंकि इसमें भूदान आंदोलन का जिक्र है। इस आंदोलन की स्मृत्ति मेरे मानस में पहले से सुरक्षित थी।

मैंने उसी समय निश्चय कर लिया था कि एम. फिल् के लघु शोध–प्रबंध के लिए मैं इसी उपन्यास को आधार बनाऊँगा। विषय पर शोध कार्य की इच्छा से जब मैं अपने शोध–निदेशक डॉ. ओमप्रकाश सिंह से मिला तो उन्होंने तत्काल स्वीकृति दे दी। इससे मेरा उत्साह द्विगुणित हो उठा। मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता हो रही है कि इस विषय पर यह पहला शोध कार्य है।

" 'बिस्रामपुर का संत' समकालीन जीवन की ऐसी महागाथा है जिसका फलक बड़ा विस्तीर्ण है और जो एक साथ कई स्तरों पर चलती है। एक ओर यह भूदान आंदोलन की पृष्ठभूमि में स्वातंत्र्योत्तर काल में सत्ता के व्याकरण और उसी क्रम में हमारी लोकतांत्रिक त्रासदी की सूक्ष्म पड़ताल करती है, वहीं दूसरी ओर एक भूतपूर्व ताल्लुकेदार और राज्यपाल कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह की अंतर्कथा के रूप में महत्वकांक्षा, आत्मछाल, अतृप्ति, कुंठा आदि की जकड़ में उलझी हुई ज़िन्दगी को पर्तदर–पर्त खोलती है। फिर भी इसमें सामंती प्रवृत्तियों की ह्रासोन्मुखी कथा भर नहीं हैं, उसी के बहाने जीवन में सार्थकता के तंतुओं की खोज के सशक्त संकेत भी हैं। यह और बात है कि कथा में एक अप्रत्याशित मोड़ के कारण, जैसा कि प्रायः होता है, यह खोज अधूरी रह जाती है।"

प्रस्तुत शोध–प्रबंध को तीन अध्यायों में बाँटा गया है। पहला अध्याय है– 'भूदान आंदोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि', दूसरा – 'बिस्रामपुर का संत' में अभिव्यक्त भूदान आंदोलन का स्वरूप', तीसरा – 'भूदान आंदोलन की प्रासंगिकता का सवाल और 'बिस्रामपुर का संत'।

पहले अध्याय 'भूदान आंदोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' में मैंने आजादी के पूर्व के मुख्य किसान आंदोलनों पर चर्चा की है तथा स्वतंत्रता के पश्चात् के किसान आंदोलन के रूप में भूदान व ग्रामदान आंदोलन पर आंकड़ों सहित विषद चर्चा की है। इसमें किसानों की तत्कालीन समस्याएँ व भूदान आंदोलन की उत्पत्ति, नेतृत्व प्रसार और कार्य प्रणाली पर व्यापक चर्चा की गई है।

दूसरे अध्याय 'बिस्रामपुर का संत' में अभिव्यक्त भूदान आंदोलन का स्वरूप' को मैंने कई उप–भागों में बाँटा है, पहला– 'बिस्रामपुर का संत' और भूदान आंदोलन की पृष्ठभूमि' में उपन्यास में आये भूदान आंदोलन का जिक्र किया है, दूसरे भाग 'भूदान आंदोलन से जुड़े पात्र और उनका दृष्टिकोण' में मैंने उपन्यास के प्रमुख पात्रों का परिचय एवं उनके दृष्टिकोण का वर्णन किया है। तीसरे भाग 'भूदान आंदोलन : स्वार्थों की पूर्ति का साधन' में मैंने भूदान आंदोलन से जुड़े हुए लोगों का वास्तविक स्वार्थ परख चरित्र उजागर किया है। चौथे भाग 'भूदान आंदोलन की परिणति' में मैंने उपन्यास में भूदान आंदोलन का जो ह्रास हुआ है उसका वर्णन किया है।

तीसरे अध्याय – 'भूदान आंदोलन की प्रासंगिकता का सवाल और 'बिस्रामपुर का संत' में मैंने भूदान आंदोलन को लेकर जितने प्रश्नचिह्न उपन्यास में पात्रों के माध्यम से लगाए गए हैं उनकी आलोचनात्मक व्याख्या की है तथा भूदान आंदोलन किन कारणों से असफल हुआ उसकी जाँच पड़ताल भी इस उपन्यास के माध्यम से की है।

यह कठिन शोध कार्य मेरी दादी और मम्मी–पापा के आशीर्वाद से ही संभव हो सका है। स्वयं अशिक्षित होते हुए भी उन्होंने मेरी शिक्षा पर विशेष बल दिया, उसी का परिणाम आज एम. फिल्. शोध–प्रबंध के रूप में सामने आ रहा है। मेरे बड़े भैया मुरारीलाल जी व भाभी फौरन्ती देवी का पूर्ण सहयोग हमेशा मिलता रहा है। उन्हीं की बदौलत आज मैं देश के इस प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में शोध–प्रबंध लिखने में सफल हो सका हूँ। मैं उनकी आत्मीयता के आगे उन्हें धन्यवाद देना अनुचित समझता हूँ। बस, केवल श्रद्धा से उनका नमन करता हूँ। शोध कार्य के दौरान मेरी पत्नी प्रकाशी का आत्मीय सहयोग मिलता रहा है। इसके साथ ही परिवार के सभी सदस्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अग्रज शंकरलाल जी, तथा अनुज हरिप्रसाद, नन्दकिशोर, विजय कुमार आदि का विशेष सहयोग रहा है। भतीजे राहुल, निखिल तथा पुत्र गिरीश शोध–प्रबंध लिखते वक्त मुझे मानसिक बल देते रहे हैं।

यह शोध कार्य केवल मेरे वश का नहीं था। मेरे शोध–निदेशक का सम्पूर्ण सहयोग यदि प्राप्त नहीं होता तो सम्भवतः यह शोध कार्य इस रूप में पूर्ण नहीं हो पाता। उन्होंने एक शोध निदेशक के स्तर से कहीं ज्यादा सहयोग दिया, जब भी मुझे

कोई समस्या महसूस हुई उनके पास निसंकोच चला गया। चाहे वे कितने ही व्यस्त क्यों न रहे हों। उन्होंने हमेशा मुस्कराते हुए मेरी समस्याओं का न सिर्फ समाधान किया बल्कि एक नई दिशा भी दी तथा साथ ही एक नया उत्साह भी दिया। उन्होंने इस शोध कार्य को अच्छे से अच्छा बनाने के लिए पूरा प्रयत्न किया। उनका मैं हृदय से आभारी हूँ।

इस समय बचपन के मित्र रामराज जी, कमलेश, रामराज आदि की याद आ रही है जो हमेशा मुझे दूरभाष और पत्रों के माध्यम से प्रोत्साहित करते रहे हैं।

जे.एन.यू. में मुझे मित्रों का सहयोग पूर्ण व्यवहार प्राप्त हुआ। मेरे मित्रों में विशेष रूप से कवीन्द्र जिन्होंने पहली मुलाकात में ही मेरे हृदय में अपना स्थान बना लिया। उन्हें मैं कभी नहीं भूल सकता। साथ ही अन्य मित्रों में अग्रज अजयजी, राजेन्द्र जी, भरत जी, नरेश जी, वीरेश जी, व समयसिंह, सुमेर सिंह, संतोष, अजीत, सत्यपाल, पदम, संजय, राजेश, कालीचरण, रामचंद्र, रामदर्शन, आदि को नहीं भूल सकता, इन सब मित्रों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

हिन्दी विभाग के मेरे समस्त गुरूजनों को मैं धन्यवाद देता हूँ जिनके कारण मेरी ज्ञान वृद्धि होती रही है।

इस शोध कार्य का टंकण श्री विक्रम सिंह द्वारा पूर्ण हुआ है। उन्होंने कम समय में इस शोध कार्य को शुद्धता के साथ शब्द रूप दिया है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

दिनांक
25/07/2002

रामचरण मीणा
319 (ई) ब्रह्मपुत्र छात्रावास
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली–110067

प्रथम अध्याय

भूदान आंदोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है और गाँव के लोगों का जीवन कृषि पर आधारित है। भारत में आज भी देश की कुल आबादी की लगभग सत्तर प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है। किसान की जीविका मूलतः खेती से चलती है। यही वह समूह है जिसके कठिन परिश्रम से देश की सम्पूर्ण आबादी के लिए खाद्य पदार्थ और उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा होता है।

किसान शुरू से ही अनेक समस्याओं से जूझ रहे हैं। समाज में वर्ण–व्यवस्था शुरू से ही चली आ रही है। हमारे समाज में कई वर्ग हैं। भूमिपतियों के पास जमीन का प्रतिशत ज्यादा है एक तरफ भूमिपति, पूंजीवादी हैं, दूसरी तरफ किसान, मजदूर और बन्धुआ मजदूर हैं, एक वर्ग बुर्जुआ है तथा दूसरा वर्ग सर्वहारा।

वर्णाश्रम पर आधारित भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सत्ता का केन्द्रीकरण उच्चवर्ण तक सीमित रहने के कारण नीचे का वर्ण सदैव सामाजिक–राजनीतिक अधिकार विहीन रहा, समाज में जाति व्यवस्था की जड़ें अत्यंत गहरी जमी होने के कारण जब कभी इन वर्गों ने अपने अधिकारों की माँग की तो उच्च वर्ण के लोगों ने इसे चुनौती मानते हुए इसका दमन किया।

"किसान कृषि उत्पादक को कहते हैं जो जमीन के छोटे टुकड़े पर अपने परिवार के श्रम के साथ सामाजिक जरूरतों तथा सरकारी कर–दायित्व को पूरा करने के लिए कृषि धन उत्पादन करता है, वही किसान है। लेकिन किसानों का यह चरित्र स्थायी नहीं रहता। राष्ट्र के ऐतिहासिक उत्थान–पतन के क्रम में जब भूमि का बँटवारा दूषित और ग्रामीण उद्योग को तहस–नहस कर दिया जाता है तो विषमताएँ पैदा होती हैं। कुछ लोग जमीन के बड़े हिस्से के मालिक हो जाते हैं, जो बिना श्रम किए आमदनी प्राप्त करते हैं और अनेकानेक लोग भूमिहीन हो जाते हैं, जिनके लिए श्रम बेचकर भू–मालिकों के खेतों पर काम करना ही जीवन–यापन के लिए जरूरी हो जाता है। किसानों की ऐसी स्थिति न तो स्वाभाविक है और न ही देश के हित में।"[1]

650 ई. से 1200 ई. के बीच सामंती प्रथा के विकास ने भारतीय समाज के प्रत्येक पहलू को गहरे रूप में प्रभावित किया। भूमि का स्वामित्व अब समाज के उच्च वर्ण विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग तक ही सीमित हो गया। सामंती प्रथा के अंतर्गत कृषक वर्ग को उनकी भूमि को छोड़कर अन्यत्र जाने पर प्रतिबंध लगा देने, बिचौलियों के उदय और कृषकों पर करों का भार असहाय होने से कृषि से जुड़े निम्न वर्ग की स्थिति बदतर होती गयी। सल्तनत और मुगलकाल में भी जमींदारी–जागीरदारी व्यवस्था के विद्यमान होने से किसान वर्ग की सामाजिक–आर्थिक स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया।

सन् 1764 ई. के बक्सर युद्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की विजय और औपनिवेशिक व्यवस्था स्थापित होने के बाद कम्पनी शासन ने पारंपरिक कृषि–व्यवस्था (जिसमें किसानों को वर्ष में कृषि उपज का एक निश्चित हिस्सा शासक या स्थानीय सामंत वर्ग को देना होता था) का अंत कर भू–राजस्व की नयी प्रणाली शुरू की, जिसमें भू–राजस्व का आधार अंतिम उपज न होकर कुल कृषि योग्य जमीन होती।

यद्यपि मुगलों के जमाने में भी राजस्व प्रणाली में आ रहे परिवर्तनों के कारण किसानों की परेशानियाँ बढ़ रहीं थी। पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का वर्चस्व बढ़ने के साथ भारत की कृषि संरचना में गुणात्मक परिवर्तन हुए। मुगल साम्राज्य की मूल आमदनी खेतों की मालगुजारी से होती थी। समयोपरांत मुगल शासन में मनसबदारों का शोषण बढ़ता गया क्योंकि नौकरशाही गठित होती गई। जबसे मनसबदारों को 'मालगुजारी वसूल करने का अधिकार मिला किसानों पर शोषण बढ़ता गया। नतीजतन, मुगलों के जमाने में भी 1660 के दशक में जाट विद्रोह और 1672 में सतनामी विद्रोह जैसे बड़े किसान आंदोलन हुए थे। लेकिन बावजूद इसके कृषि भूमि पर किसानों के अनुवांशिक अधिकार पहले की तरह कायम थे। मुगलों के जमाने में भूमि पर किसानों का अधिकार पूरी तरह सम्मानित था, खेती लायक जमीन की बहुलता थी और ग्रामीण उद्योग धंधों से आबादी के अच्छे हिस्से की जीविका चलती थी।"[2]

किसान विद्रोह का स्थायी सिलसिला ब्रिटिश शासन की देन है। ईस्ट इण्डिया कंपनी ने बंगाल की दीवानी (1765) हासिल करने के बाद भारतीय कृषि व्यवस्था में लगातार परिवर्तन किया। इसके परिणामस्वरूप किसानों की स्थिति मुगल शासन से भी बदतर हो गई। जी. टी. रेंच ने अपनी किताब 'द रेस्टोरेशन ऑफ दी पोजेंट्रीज' (1939) में लिखा है कि "ब्रिटिश शासन ने भारतीय कृषि को तीन स्तरों पर ब्रिटिश कृषि व्यवस्था की तर्ज पर ढाला जिसके कारण यहाँ की खेती चौपट हुई और साथ में किसान भी। ये तीन स्तर हैं– कृषि भूमि पर बड़े इस्टेट (जमींदार) का निर्माण करना; ऋण व्यवस्था को वैधानिक बनाना; और लाभ आधारित व्यक्तिवादी दर्शन का बीजारोपण करना।"[3]

परिणामस्वरूप खेत जोतने वाला किसान जमींदारों के रैयत हो गए। तथा किसानों का अपनी जमीन पर अधिकार नहीं रहा, वे पट्टेदार हो गए। इसके साथ ही किसानों पर लगने वाली लगान की मात्रा बढ़ने लगी। और किसानों की हालत लगातार कमजोर होती गई। ब्रिटिश शासन के शोषण के कारण किसानों के पास न तो पर्याप्त खाद्य सामग्री थी और न ही खेती में निवेश के लिए पर्याप्त पूँजी। ऐसे माहौल में किसानों के पास बगावत के अलावा कोई रास्ता नहीं था।

अंगरेजों को खेतों की नई बंदोबस्ती ने चाहे वह जमींदारी प्रथा हो या रैयतवारी या महलवारी, खेती करने वाले किसानों के सामने तीन नई परिस्थितियाँ पैदा कीं। "जमींदार लगातार मालगुजारी बढ़ाते रहे, साहूकारों का ऋण जाल बढ़ता रहा और सरकार जमींदारों और साहूकारों की तरफदारी करती रही। किसानों की बिगड़ती आर्थिक स्थिति के कारण खेतों की बेदखली का सिलसिला बढ़ता गया। आखिरकार किसानों का धैर्य टूट गया। इस विभीषिका के स्वाभाविक परिणाम किसान विद्रोह थे जो जमींदारों और साहूकारों के खिलाफ हुए, जिन्हें अंगरेजी शासन व्यवस्था ने कायम किया था।"[4]

किसानों ने जितने विद्रोह किए हैं उनका लक्ष्य खेतों की मिल्कीयत हासिल करना, आर्थिक शोषण से मुक्त होना और अपनी जीवन शैली के अवरोधकों को तोड़ना ही रहा है।

ब्रिटिश शासनकाल में किसान आंदोलनों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है। "प्रथम, 1857 के पहले के और 1857 का विद्रोह, जो आदिवासियों तथा किसानों ने अपेक्षाकृत असंगठित रूप में चलाए। द्वितीय 1857 से बीसवीं सदी के पूर्वाद्ध तक के विद्रोह।"[5]

1857 के स्वाधीनता संग्राम में किसानों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। "उल्लेखनीय है कि 1857 से पहले ही ब्रिटिश साम्राज्वादी नीति के चलते किसान असन्तोष की ज्वाला से धधक रहे थे और ये विद्रोह छोटे–छोटे आंदोलनों के रूप में सामने आ रहे थे। अंग्रेज सरकार द्वारा किसानों पर लगान की दर को बढ़ा देने से किसानों की हालत दिन–प्रतिदिन बदतर होती जा रही थी। किसानों के असंतोष को बढ़ाने वाले अन्य प्रकारकों में प्राकृतिक प्रकोप, फसलों के खराब होने की स्थिति में सरकार द्वारा मुआवजा न दिया जाना, करों की दरों में वृद्धि करना आदि मुख्य थे। परिणामस्वरूप भारतीय जन मानस में पहले से मौजूद अन्तर्विरोध और मुखर हो उठे, जो व्यापक स्तर पर 1857 में एक विशाल विद्रोह के रूप में सामने आये। कुल मिलाकर 1857 की इस जनक्रांति, जिसमें किसान–वर्ग की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।"[6]

किसान–आंदोलन अपनी प्रारंभिक अवस्था में ब्रिटिश शासन की जमींदार समर्थक शोषक नीति की परिणति है और उसके दो रूप स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। "पहला– गांधीजी के राजनीति में प्रवेश के उपरान्त अहिंसात्मक और दूसरा समाजवादी विचारधारा के अनुरूप। अपनी दूसरी अवस्था में किसान आंदोलन विशुद्धरूपेण अहिंसात्मक रहा। जिस प्रकार राष्ट्रीय नेशनल कांग्रेस दो भागों में बंटी थी, गांधीवादी और समाजवादी, उसी तरह देश का किसान आंदोलन जिन रूपों में मिलता है, उनमें पहला अहिंसावादी कांग्रेस नेतृत्व के अधीन चला गया, जबकि दूसरा समाजवादी विचारधारा के अनुयायी सहजानन्द सरस्वती, डॉ. राममनोहर लोहिया, डॉ.

अशरफ, प्रो. रंगा, सोहन सिंह जोश तथा अन्य लोगों के नेतृत्व में पोषित होकर आगे बढ़ा।"[7]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व व स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त कई किसान आन्दोलन हुए, जिनमें मुख्य रूप से नील आंदोलन, पाबना विद्रोह, दक्कन उपद्रव, अवध में किसान आंदोलन, माप्पिला विद्रोह बारदोली सत्याग्रह, तेभागा आंदोलन, तेलंगाना आंदोलन, भूदान तथा ग्रामदान आदि।

नील आंदोलन (1859–60)

अपनी आर्थिक माँगों के लिए किसानों ने जो संघर्ष किया, उनमें सबसे जुझारू और सबसे बड़े पैमाने पर फैला था बंगाल में नील आंदोलन। नील की खेती करने वाले किसानों की बेचैनी का इजहार, सिपाही विद्रोह के बाद यह पहला किसान आंदोलन था। यह आंदोलन किसानों ने शांतिमय ढंग से चलाया। जिसमें उन्होंने सामूहिक कार्रवाई की।

"दरअसल, नील उत्पादकों ने किसानों को ज़बरन नील की खेती करने पर अरसे से मजबूर कर रखा था। जबकि किसान अपनी बढ़िया उपजाऊ ज़मीन पर चावल उगाना चाहते थे, जिसकी उन्हें बेहतर कीमतें मिलती थीं। ज्यादातर नील–उत्पादक यूरोपीय थे और ग्रामीण इलाकों में उनके कारखाने थे, जहाँ वे नील का शोधन करते थे। शुरू से ही नील उगाने वाले किसानों का जबरदस्त शोषण होता रहा था और उन्हें इस कारण भारी घाटा उठाना पड़ता था।"[8]

इसी पर बंगाल के लेफ़्टिनेंट गवर्नर ने खुद इस मामले पर टिप्पणी की थी कि "सारे झगड़े की जड़ यह है कि नील–उत्पादक बिना पैसा दिए ही रैयतों को नील की खेती करने पर मजबूर करते हैं।"[9]

इसके बाद उन्होंने इससे आसान रास्ता चुना। किसानों को आतंकित करने का। "वे अपने लठैतों द्वारा किसानों का अपहरण कर, उन्हें कोड़े मारकर, उनके बच्चों

और औरतों की पिटाई कर, लूटपाट कर, घर और खड़ी फ़सलें जलाकर और ऐसे ही दूसरे अत्याचार कर उन्हें नील उगाने पर मज़बूर करने लगे।"[10]

परिणामस्वरूप सभी नील उत्पादकों ने एक जुट होकर उनके खिलाफ व्यापक स्तर पर आंदोलन छेड़ा। तथा रैयतों ने लगान चुकाना ही बंद कर दिया। यह आंदोलन सफल रहा, इस आंदोलन की सफलता का सबसे बड़ा कारण यह था कि– "रैयतों ने पूरे अनुशासन, एकजुटता, संगठन और सहयोग के बूते पर यह लड़ाई लड़ी थी। आंदोलन के नेतृत्व और भागीदारी के सभी स्तरों पर हिन्दू और मुस्लिम किसानों ने कंधे–से–कंधा मिलाकर काम किया।"[11]

साथ ही नील आंदोलन की सफलता का दूसरा कारण यह रहा कि "बंगाल के उस समय के बुद्धिजीवियों ने भी इसमें सक्रिय भूमिका निभाई और संघर्षरत किसानों के समर्थन में सशक्त अभियान चलाया। अख़बारों में लेख लिखकर, जनसभाएं आयोजित कर और किसानों के समर्थन में ज्ञापन जारी कर बुद्धिजीवियों ने इस लड़ाई को और तेज़ किया और उनके समर्थन में माहौल बनाया।"[12]

'हिन्दू पैट्रियट' के संपादक हरीशचन्द्र मुखर्जी ने नील आंदोलन के ऐतिहासिक और राजनीतिक महत्व को रेखांकित करते हुए मई 1860 में लिखा, "बंगाल को अपने किसानों पर गर्व होना चाहिए, शक्ति, धन, राजनीतिक शिक्षा और यहाँ तक कि नेतृत्व के अभाव के बावजूद बंगाल के किसानों ने जो आंदोलन चलाया है, वह अब तक दुनिया के सामाजिक इतिहास में किसी भी आंदोलन से किसी भी मायने में कमतर नहीं है। सरकार किसानों के खिलाफ़ है, कानून उनके ख़िलाफ है ट्रिब्यूनल उनके ख़िलाफ है, प्रेस उनके ख़िलाफ है और इसके बावजूद उनकी यह उपलब्धि रही है, जिसका लाभ हमारे देश की आगे आने वाली पीढ़ियों को हर स्तर पर मिलेगा।"[13]

पाबना विद्रोह (1873–76)

बंगाल के ज्यादातर इलाकों में 19वीं सदी के 7वें और 8वें दशक के शुरूआती दिनों में बड़े पैमाने पर कृषक अशांति रही। इसका प्रमुख कारण था कि ज़मींदारों ने

किसानों पर लगान की दरें कानूनी सीमा से भी ज़्यादा बढ़ा दी थी। साथ ही वे किसानों पर तरह–तरह के अत्याचार करते थे। उन्हें ज़बरन ज़मीन से बेदखल कर दिया जाता था। उनकी फ़सलों और पशुओं की ज़ब्ती के अलावा ज़मींदार उन्हें तरह–तरह के मुकदमों में भी फंसा देते थे।

इस तरह के अत्याचार और दमन के खिलाफ़ किसानों में असंतोष बढ़ता गया और उन्होंने इसका मुक़ाबला करने की तैयारियाँ शुरू की। 1873 में पाबना ज़िले के युसुफशाही परगना में किसान संघ की स्थापना की गई। संघ ने किसानों को संगठित किया। संघ द्वारा आयोजित सभाओं में हज़ारों किसान शामिल होते और गाँव–गाँव जुलूस निकाल कर वहाँ के किसानों से भी संघ में शामिल होने की अपील करते। कुछ दिनों बाद संघ ने 'लगान–हड़ताल' की और इसके तहत रैयतों ने बढ़ा हुआ लगान चुकाने से इनकार कर दिया। संघ ने ज़मींदारों के खिलाफ़ मुकदमे दायर किए और मुकद्मे लड़ने के लिए रैयतों ने दिल खोलकर संघ को चंदे दिए। धीरे–धीरे यह संघर्ष पाबना के अन्य भागों और पूर्व बंगाल के दूसरे जिलों में भी फैल गया। हर जगह किसान संघ बने, लगान देना बंद कर दिया गया और जमींदारों को अदालतों में खींचा गया। लेकिन किसानों की यह लड़ाई मुख्यतः कानूनी मोर्चे पर ही सीमित थी।

दरअसल, इस आंदोलन के प्रति जमींदारों और उपनिवेशवादी साम्राज्य से समझौते का रूख इसीलिए अपनाया क्योंकि "यह आंदोलन महज़ किसानों की तात्कालिक समस्याओं और शिकायतों को दूर करने और तत्कालीन कानूनों के तहत उन्हें दिए गए अधिकारों को अमली जामा पहनाने की मांग तक ही सीमित था। न तो यह आंदोलन जमींदारी प्रथा के खिलाफ़ था। और न ही किसी भी स्तर पर यह आंदोलन उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति से जुड़ा था।"[14]

किसान संघों ने अपनी सभी गतिविधियाँ आमतौर पर कानूनी दायरे में सीमित रखीं, जमींदारों के खिलाफ़ अपनी लड़ाई में सिर्फ वैधानिक साधनों का सहारा लिया और अंग्रेजों के विरोध में कोई मांग नहीं उठाई बल्कि आंदोलन के नेताओं ने अकसर यह स्पष्ट भी किया कि वे अंग्रेजों के खिलाफ़ नहीं हैं और सिर्फ़ जमींदारों के खिलाफ़

हैं, इन नेताओं ने यह नारा भी दिया कि "हम महारानी और सिर्फ महारानी की रैयत होना चाहते हैं।"[15]

1875 का दक्कन उपद्रव

1858 के बाद किसान आंदोलन में थोड़ा बदलाव आया। इस समय तक अंग्रेजी हुकूमत ने राजाओं रियासतदारों और भूस्वामियों को परास्त कर दिया था। अतः कृषक आंदोलन की सबसे बड़ी ताकत बने किसान। "किसानों ने अपनी मांगों के लिए सीधे लड़ना शुरू किया। 1858 के बाद का किसान आंदोलन वास्तव में किसानों के सामाजिक उत्पीड़न के प्रति उनके आक्रोश का प्रस्फुटन मात्र था। किसानों ने तभी विद्रोह किया, जब उन्हें लगा कि उनकी पारंपरिक जीवन शैली पर प्रहार हो रहा है और वे अधिक दिनों तक यथास्थिति को बरकरार नहीं रख सकते।"[16]

किसान बदलाव के लिए नहीं, वरन् यथास्थिति को बरकरार रखने के लिए लड़ते रहे। मसलन उन्होंने कभी ज़मीन के मालिकाना हक या ज़मींदारी के खिलाफ लड़ाई नहीं छेड़ी। इनका संघर्ष बेदखली और ज़्यादा लगान के खिलाफ ही था।

महाराष्ट्र के पूना और अहमदनगर जिलों में 1875 में किसानों के गुस्से ने बड़े पैमाने पर उपद्रव भड़काया। यहाँ रैयतवारी प्रणाली के तहत लगान की वसूली सीधे किसान से की जाती थी और उसे उसकी ज़मीन का मालिक माना जाता था। अन्य रैयतवारी इलाकों की तरह यहाँ के किसान भी महाजनों के शिकंजे में थे, क्योंकि उनसे कर्ज़ लिए बिना वे लगान चुका पाने की स्थिति में ही नहीं थे। ये महाजन तरह–तरह से किसानों का शोषण करते थे। इसी बीच 1860 के दशक के शुरू में अमरीकी गृहयुद्ध के कारण कपास के निर्यात में बढ़ोत्तरी हुई, परिणामस्वरूप कपास की कीमतें भी काफ़ी बढ़ गईं। इसी दौरान 1867 में सरकार ने लगान की दर में करीब 50 प्रतिशत की वृद्धि कर दी। दूसरी तरफ लगातार खराब फ़सलों ने रही–सही कसर भी पूरी कर दी।

जाहिर है कि "इन स्थितियों में भू–राजस्व चुकाने के लिए फटेहाल किसानों के पास इसके सिवा और कोई चारा नहीं था कि वे महाजनों के शरदा में जाएँ। महाजनों ने इस मौके का खूब फ़ायदा उठाया और कर्ज़ के बदले में किसानों की ज़मीन और घर रेहन रखवा लिए। कमरतोड़ ब्याज़ की वसूली से किसान और भी टूटते गए। महाजनों के खिलाफ उनका गुस्सा बढ़ता गया और स्थिति बहुत तनावपूर्ण हो गई।"[17]

इन सबके परिणामस्वरूप किसानों ने आंदोलन छेड़ दिया। यह आंदोलन तीन हफ्ते तक बहुत जोर पकड़े रहा, लेकिन सरकार ने फौरन कार्रवाई की और इस आंदोलन को दबा दिया। "पाबना विद्रोह के समान, दक्कन उपद्रवों में भी सरकार कोई खास परेशान नहीं हुई, क्योंकि किसानों के उद्देश्य बहुत सीमित थे और इनमें उपनिवेशवाद–विरोधी चेतना जागृत नहीं हो सकी थी। उपनिवेशवादी सत्ता ने इसका फ़ायदा उठाया। उसने दक्कन कृषक राहत अधिनियम, 1879 के माध्यम से किसानों को महाजनों के खिलाफ़ कुछ संरक्षण प्रदान किए।"[18]

अवध में किसान आंदोलन

अन्य किसान आंदोलन की तरह अवध का किसान आंदोलन भी चर्चा में रहा। 1856 ई. में अंग्रेजी हुकूमत के कब्जे के बाद पूरे प्रांत में तालुकेदारों और बड़े जमींदारों ने किसानों पर अपनी पकड़ मजबूत बना ली और किसानों का शोषण करने लगे। "पहले तालुकेदारों को लगान का केवल एक हिस्सा ही मिलता था, पर अब वे जमीन के आला मालिक हो गए। मनमाना लगान वसूलने लगे।"[19]

ये लोग जब चाहते नज़राने की रकम बढ़ा देते, जब जिसे चाहते बेदखल कर देते। "इस तरह काश्तकार अब तालुकेदारों की मर्ज़ी पर जीने लगे। इनकी जिंदगी जमींदारों के लठैतों के रहम–ओ–करम पर गुज़रने लगी।"[20]

अवध में होमरूल लीग आंदोलन के कार्यकर्त्ता काफी सक्रिय थे। इन्होंने किसानों को संगठित करना शुरू किया। संगठन को नाम दिया गया। 'किसान सभा'। गौरी शंकर मिश्र, इंद्रनारायण द्विवेदी और मदनमोहन मालवीय के प्रयासों से फरवरी

1918 में 'उ. प्र. किसान सभा' का गठन हुआ था। इस संगठन ने किसानों को बड़े पैमाने पर संगठित किया। तथा थोड़े ही समय में अपने को स्थापित कर लिया। इसने अनेक शाखाओं का गठन किया तथा फतेहपुर, इलाहाबाद, मैनपुरी, बनारस, कानपुर, गौरपुर आदि जिलों में 'किसान सभा' की अनेक बैठकें हुईं।

'किसान सभा' ने किसानों को व्यापक स्तर पर जागरूक बनाया तथा किसानों ने अनेक कांग्रेस अधिवेशनों में भाग लिया। "सिंगुरी सिंह और दुर्गापाल सिंह ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन जल्दी ही आंदोलन में एक नया चेहरा उभरा– बाबा रामचन्द्र, जिन्होंने आंदोलन की बागडोर ही नहीं संभाली बल्कि उसे और मज़बूत और जुझारू बनाया।"[21]

बाबा रामचन्द्र का जन्म महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था, 13 वर्ष की आयु में ही घर–बार छोड़कर निकल पड़े थे। तुलसीदास का रामचरितमानस लेकर गाँव–गाँव घूमते और गाँव वालों को मानस की चौपाईयाँ सुनाते। 1920 के मध्य में वे एक किसान नेता के रूप में उभरे। अवध के किसानों को संगठित करना शुरू किया। उनमें संगठन की अद्‌भुत क्षमता थी।

जून 1920 में बाबा रामचंद्र जैनपुर और प्रतापगढ़ के किसानों के एक जत्थे का नेतृत्व करते हुए इलाहाबाद पहुंचे। वहाँ उन्होंने गौरीशंकर मिश्र और जवाहर लाल नेहरू से मुलाकात की और उनसे गाँव में आकर किसानों की हालत देखने का अनुरोध किया। उसी समय जवाहरलाल नेहरू ने कई बार ग्रामीण इलाकों का दौरा किया और 'किसान सभा' आंदोलन से संपर्क स्थापित किया।

गौरीशंकर मिश्र, जवाहरलाल नेहरू, माताबदल पाण्डे, बाबा रामचन्द्र, देवनारायण पाण्डे और केदारनाथ के प्रयासों के चलते अक्टूबर के अंत तक 330 किसान सभाएं इस नए किसान संगठन में शामिल हो गई। अवध किसान सभा ने किसानों से बेदखली जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की। इसे न माननेवालों का बहिष्कार करने की अपील की गई। 20 और 21 दिसंबर को अवध किसान सभा की अयोध्या में एक विशाल रैली हुई, जिसमें लगभग एक लाख किसानों

ने भाग लिया। इस रैली में बाबा रामचंद्र रस्सी में बंधे हुए आए यह दरशाने के लिए कि किसानों की हालत यही है, उन पर अत्याचार हो रहे हैं।

जनवरी के आरंभ में किसान संघर्ष में बदलाव आया। किसानों की गतिविधियों के प्रमुख केंद्र थे रायबरेली, फ़ैजाबाद और सुल्तानपुर। बाजारों, मकानों, खेत–खलिहानों की लूटपाट और पुलिस से जब–तब संघर्ष ही किसानों की मुख्य गतिविधियाँ थीं। इनमें कुछ वारदातें अफवाहों के कारण हुईं, जैसे मुंशीगंज और खरहिया बाज़ार (रायबरेली) में किसान नेताओं की गिरफ़्तारी की अफ़वाह फैलते ही लूटमार मच गई। बाकी वारदातें या संघर्ष तालुकेदारों के शोषण के खिलाफ किसानों के छिटपुट संघर्ष थे। इनमें बहुत सी घटनाओं में 'किसान सभा' के किसी बड़े नेता ने नहीं, बल्कि स्थानीय लोगों ने पहल की थी, जिसमें साधू, धार्मिक हस्तियाँ और दायवंचित भूस्वामी शामिल थे।

इस तरह के छिटपुट संघर्ष को दबाना सरकार के लिए कोई मुश्किल काम नहीं था। कई बार संघर्ष पर उतारू किसानों पर गोलियाँ चलाई गईं। नेताओं और कार्यकर्त्ताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया, मुक़दमे चलाए गए और फरवरी–मार्च में एक दो वारदातों को छोड़कर, जनवरी में ही यह आंदोलन समाप्त प्राय हो गया। इसी बीच सरकार ने अवध मालगुजारी (रेंट) (संशोधन) अधिनियम पारित कर दिया। इससे किसानों को कोई खास राहत तो नहीं मिली, लेकिन उनके मन में उम्मीदें जगी। इस नए कानून ने भी आंदोलन को तोड़ने का काम किया।

इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें ऊँची और नीची जातियाँ दोनों ही के किसान मौजूद थे।

माप्पिला विद्रोह (1836–1911)

किसान आंदोलन के इतिहास में माप्पिला विद्रोह बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह वास्तविक खेती करने वाले किसानों की लड़ाई जामनी (खेत का कानूनी मालिक जो रैयत को खेती करने के लिए जमीन लगान पर देता था) से थी। ब्रिटिश भूमि नीति ने

भू–स्वामियों को जमीन पर स्थाई अधिकार देने की जो व्यवस्था अपनाई वह माप्पिला किसानों के हित में नहीं था। इसी विक्षोभ के कारण मोप्पिला किसानों का 1836 और 1853 के बीच काफी सघन विद्रोह हुआ। यह केरल राज्य में हुआ था। यह विद्रोह खेती के हक को स्थाई करने जमींदारों द्वारा बेदखली के अधिकार पर रोक लगाने, मालगुजारी वृद्धि से शोषित होने तथा साहूकारों द्वारा ऋण की मारफत चूसे जाने के मुद्दों को लेकर छेड़ा गया था।

यह आंदोलन किसानों की ओर से अहिंसात्मक था। किसानों ने शांतिपूर्ण ढंग से आवेदन पत्र और शिकायत पत्र के मारफत अपनी मांगों को अमल कराने की कोशिश की थी। लेकिन सरकार ने कभी भी किसानों की माँगों पर सहानुभूतिपूर्ण रवैया नहीं दिखाया, बल्कि बराबर बल प्रयोग से इसे कुचलने की कोशिश की।

"अगस्त 1921 में देश के बिलकुल दूसरे छोर पर मालाबार ज़िले (केरल) में काश्तकारों का विद्रोह कई अन्य किसान संघर्षों के मुकाबले कहीं अधिक व्यापक और जुझारू था। इनकी भी समस्याएं अवध प्रांत के किसानों जैसी थी। ज़मींदार जल चाहते, उन्हें बदखल कर देते। मनमाना लगान वसूलते और तरह–तरह के अत्याचार करते। 19वीं सदी में भी माप्पिला किसानों ने जमींदारों के खिलाफ संघर्ष किया था, पर जो विद्रोह 1921 में फूटा, वह पहले से एकदम अलग पैमाने पर था।"[22]

बारदोली सत्याग्रह (मई, 1928)

बारदोली आंदोलन भी अन्य किसान आंदोलनों की तरह ही एक आंदोलन था। "जनवरी 1926 में जब पता चला कि लगान पुनरीक्षण अधिकारी ने लगान में 30 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी की सिफारिश की है, तो कांग्रेस नेताओं ने फौरन इनका विरोध किया और इस मामले की जाँच के लिए बारदोली जाँच समिति का गठन किया। इस समिति ने जुलाई 1926 में अपनी रिपोर्ट दी, जिसमें लगान बढ़ोत्तरी को अनुचित बताया गया था।"[23]

इसके परिणामस्वरूप किसानों द्वारा अनेक बैठकें आयोजित की गईं। किसानों को बढ़ा हुआ लगान न देने की सलाह दी गई। "दूसरी ओर कांग्रेस के कार्यकर्ताओं का कहना था कि यदि सरकार पर दबाव डालना है, तो किसान लगान देना बंद कर दें। लेकिन इस मौके पर किसानों ने नरमपंथी नेताओं की ही सलाह मानी।"[24]

लेकिन जल्द ही संविधानवादी नेता इस आंदोलन का नेतृत्व करने में हिचकिचाने लगे। मजबूर होकर किसान फिर कांग्रेस नेताओं की ओर लौटे, "इस बीच कांग्रेस नेताओं ने वल्लभ भाई पटेल से भी संपर्क स्थापित कर लिया था और उनके आंदोलन की रहनुमाई करने का अनुरोध कर रहे थे। पटेल ने यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया और 5 फरवरी 1928 से पहले बारदोली आने का आश्वासन दिया।"[25]

12 फरवरी को पटेल बारदोली लौटे और किसान प्रतिनिधियों को सारा किस्सा बताया। इसके बाद बारदोली तालुके के किसानों की एक बैठक हुई और एक प्रस्ताव पास कर लगान की अदायगी तब तक न करने का निर्णय लिया गया, जब तक "कि सरकार किसी निष्पक्ष ट्रिब्यूनल का गठन नहीं करती या पहले से ही दिए जा रहे लगान को ही लगान की पूरी अदायगी नहीं मानती। किसानों ने 'प्रभु' और 'खुदा' के नाम पर शपथ ली कि वे लगान नहीं देंगे।"[26]

इसके बाद सरदार वल्लभभाई पटेल ने पूरे तालुके को 13 छावनियों में बांट दिया और प्रत्येक शिविर के संचालन के लिए 'अनुभवी नेताओं' को तैनात किया। इसी के साथ ही एक प्रकाशन विभाग भी बनाया गया, जहाँ से रोज 'वारदोली सत्याग्रह पत्रिका' का प्रकाशन होता था। आंदोलन का अपना एक खुफिया विभाग भी था। इसका काम लगान देने वालों का पता लगाना व उन्हें लगान देने से रोकने का था, साथ ही महिलाओं को जागरूक करने पर विशेष ध्यान दिया गया। इससे महिलाओं पर असर पड़ा और कई बार तो बैठकों में महिलाओं की संख्या पुरूषों से अधिक हो जाती और उन पर सरकार की धमकियों का कोई असर नहीं पड़ा।

किसान संघर्ष और राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के अंतःसंबंधों की सबसे सुन्दर व्याख्या शायद गाँधीजी ने ही की है। उन्हीं के शब्दों में– "बारदोली संघर्ष चाहे कुछ

भी हो, यह स्वराज की प्राप्ति के लिए संघर्ष नहीं है। लेकिन इस तरह का हर संघर्ष, हर कोशिश हमें स्वराज के करीब पहुंचा रही हैं और हमें स्वराज की मंजिल तक पहुंचाने में शायद ये संघर्ष सीधे स्वराज के लिए संघर्ष से कहीं ज्यादा सहायक सिद्ध हो सकते हैं।"[27]

तेभागा आंदोलन (1946–47)

1946–47 में बंगाल में तेभागा आंदोलन अपना उग्र रूप दिखा रहा था। यह आंदोलन पूर्णतः सामन्तवाद विरोधी था। इसका तात्कालिक उद्देश्य काश्तकारी प्रणाली में बदलाव लाना नहीं बल्कि इसी प्रणाली के लगान वाले ढांचे के तहत खेतीहरों को उत्पादन में ज्यादा हिस्सा दिलाना था। "तेभागा आंदोलन बंटाईदार खेतीहरों का था जो उत्पादन के दो–तिहाई हिस्से पर अपना अधिकार मांग रहे थे। इस तरह ये खेतीहर किसान भू–स्वामी को लगान देने के अतिरिक्त फसल तथा अन्य ऋण एवं परम्परागत लेकिन गैर कानूनी अन्य भुगतान भी करने होते थे। इस तरह उनकी फसल का एक तिहाई से एक चौथाई तक हिस्सा उनके हाथ से निकल जाता था। चूंकि जमींदार तथा अन्या बिचौलिए मुख्यतः लगान की आमदनी पर जीते थे।"[28]

बटाइदारों की हालत सबसे खराब थी। उन्हें जमीन पर काम मिलते रहने की कोई सुरक्षा भी नहीं थी और जोत पर उनका वंशागत अधिकार भी नहीं था। काम की असुरक्षा और लगान के कमरतोड़ बोझ ने खेती के विकास में बटाईदारों की लगान पर बुरा असर डाला। किसानों को एक सीमा से अधिक उत्पादन करने का कोई फायदा नहीं था क्योंकि वह लगान में चला जाता था। दूसरे अपनी दयनीय हालत के कारण वे हमेशा जमींदार और महाजन के ऋणि रहते थे।

तेभागा आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण होने की एक वजह यह भी है क्योंकि बंगाल में अपने शोषण के खिलाफ किसान 1935 से ही संगठित हो रहे थे। कम्युनिस्टों के नेतृत्व में किसान सभा ने कई स्थानीय मामले उठाने शुरू किए। 1940 में पुनः किसानों की मांगों पर बंगाल भू–राजस्व आयोग ने सिफारिश की, "कि बंटाई पर खेती

कर रहे किसानों को फसल का दो तिहाई हिस्सा मिले। लेकिन निरंतर प्राकृतिक आपदाओं के चलते और द्वितीय विश्व युद्ध की तैयारी के कारण ये सिफारिशें लागू न की जा सकीं। अंततः बंगाल किसान सभा ने 1946 में फसल के दो–तिहाई हिस्से की प्राप्ति के लिए आंदोलन शुरू कर दिया।"[29]

अन्ततः तेभागा आंदोलन असफल रहा क्योंकि आंदोलन का नेतृत्व शहरों के भद्र लोगों के हाथ में था। आंदोलन किसान समिति द्वारा चलाया जाता था। किसानों को उन्हीं के इशारे पर चलना होता था। किसानों ने आंदोलन की उपयुक्त रणनीति का सहारा नहीं लिया।

तेलंगाना आंदोलन (1946–50)

1950 से पूर्व अंतिम किसान आंदोलन तत्कालीन हैदराबाद रियासत में 1948 का तेलंगाना आंदोलन था। यह रियासत निजाम के अधीन थी, जो आजादी के बाद भी अपनी रियासत को भारतीय संघ में विलीन करने का विरोध कर रही थी। इस आंदोलन के दो चरण थे "प्रथम चरण में, निजाम और उसके निजी सैनिक गिरोह रजाकारों के खिलाफ आंदोलन था जो राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के एक हिस्से के रूप में चलाया जा रहा था। द्वितीय चरण में भी यही संघर्ष जारी रहा।"[30]

तेलंगाना आंदोलन निजाम के अधीन चल रही दमनकारी जमींदारी प्रणाली के खिलाफ था। साथ ही यह आंदोलन बेगार, आदिवासी तथा निचली जाति के किसानों द्वारा वस्तुओं के रूप में दिए जाने वाले शुल्कों, ऋण चुकाने के लिए बंधुआ बनाने और जमीन हड़पने जैसे अत्याचारों के खिलाफ था।

तेलंगाना आन्दोलन की शुरूआत 4 जुलाई 1946 से मानी जाती है। इस आन्दोलन में "सभी किसानों और कृषि मजदूों ने रजाकारों से लड़ाई लड़ी, जागीरदारों और देशमुखों की जमीन छीन ली और कुछ क्षेत्रों को मुक्त करा लिया। भारतीय सेना ने निजाम की सत्ता पलट दी और जागीरदारी प्रथा समाप्त कर दी गई।"[31]

इसके बाद किसानों और कृषि मजदूरों ने शोषक वर्ग के खिलाफ आंदोलन जारी रखा और अब उन्हें भारतीय सेना का भी दमन झेलना पड़ा। परिणामस्वरूप "उच्च जातियों– कम्मा और रेड्डी के धीन किसान, जिन्होंने निजाम और उसके रजाकारों के खिलाफ आंदोलन को सहयोग दिया था, वे आंदोलन से अलग हो गये। धीरे–धीरे आन्दोलनकारियों का जीना दूभर हो गया और आंदोलन दम तोड़ने लगा। इसी समय भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी ने आजादी के बाद नये कांग्रेस नेतृत्व द्वारा लाए गए राजनीतिक परिवर्तनों की पूर्ण समीक्षा करते हुए, आंदोलन समाप्त कर दिया।"[32]

इसकी असफलता के कई कारण थे, "पहला, यह आंदोलन किसानों द्वारा संचालित नहीं था साथ ही यह शुरू से ही हिंसात्मक था। कम्युनिस्ट पार्टी की वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण इसकी दिशा और लक्ष्य स्थायी नहीं थे।"[33] "दूसरा, इस आंदोलन के बढ़ते चरण में मध्यमवर्गीय किसानों ने अपना सहयोग वापस ले लिया।"[34] स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त 1950 के बाद कई किसान आंदोलन हुए जिनमें ग्रामदान आंदोलन व भूदान आंदोलन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चूँकि ये आंदोलन सामंती अंतर्विरोधों से पैदा हुए थे, अतः उनकी प्रकृति, स्वरूप एवं ढांचागत प्रणाली 1950 से पूर्व हुए कृषक आंदोलनों से भिन्न था। आजादी मिलने और गांधी जी की हत्या के बाद तेभागा और तेलंगाना आंदोलनों की अगली कड़ी में भू–दान तथा ग्रामदान सामने आये।

भूदान आंदोलन

यह आंदोलन एक ऐसा आंदोलन था, जिसमें किसानों ने प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष नहीं किया। यह आंदोलन आचार्य विनोबा भावे द्वारा चलाया गया आन्दोलन था। इसमें किसानों की न तो लगान माफ करवाने की समस्या थी, और न उन्हें बेदखली किया गया था। यह आंदोलन तो विनोबा द्वारा भूमिपतियों के हृदय परिवर्तन का आंदोलन था। इसमें भूमिपतियों से भूमिहीनों को जमीन दान में दिलवाई जाती थी। इस आंदोलन में विनोबा अपने दल के साथ जिसमें किसान भी शामिल थे, जगह–जगह

Diss 0,152,3,N,S,5:g 152P2

TH- 10108

जा कर किसानों को जमीन दिलवाते थे। यह आंदोलन सर्वप्रथम आन्ध्रप्रदेश के नालगौंडा जिले से शुरू हुआ था। इसी समय तेलंगाना आंदोलन भी पूरी तरह सक्रिय था। इस आंदोलन के पीछे विनोबा का मुख्य विचार था– "भूस्वामी परिवार भूमिहीनों को अपने ही परिवार में पैदा हुआ पुत्र समझें और उन्हें उनका हिस्सा उपहार में दे दें। इस आंदोलन के अगले चरण में गांवों के भू–स्वामी अपनी सारी भूमि गांवों को उपहार में दे दें। उसके बाद जमीन किसी व्यक्ति की नहीं बल्कि पूरे गांव की हो जाएगी।"[35]

यह निश्चय ही एक क्रांतिकारी कदम था जिसमें निजी सम्पत्ति की समाप्ति की मांग की गई थी। इन परिवर्तनों को स्वेच्छा समझाए जाने और अहिंसा के जरिए लाना था। इस प्रकार यह एक सामाजिक बदलाव का आंदोलन था।

विनोबा ने अपने जीवन के अनेक आधारभूत सिद्धांत अपनी माँ से ग्रहण किए थे उनमें से एक सिद्धांत ऐसा था जिसने उनको भूदान आंदोलन के लिए प्रेरित किया– "वह व्यक्ति जो दान करता है, ईश्वर है और जो संग्रह करता है, वह राक्षस है।"[36]

आचार्य विनोभा भावे ने एक प्रसिद्ध नारा दिया है।

"सबै भूमि गोपाल की।

नहीं किसी की मालिकी।।"[37]

आरंभ से ही भूमि समस्या हमारे देश की प्रमुख समस्या रही है। इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए समय–समय पर अनेक प्रयास किए गए परंतु निजी स्वार्थों के कारण उन सब प्रयासों को कुचल दिया गया। कहा तो जाता था – 'सबै भूमि गोपाल की' पर उस पर हमेशा इंसान काबिज रहता था। जो भूमि के स्वरूप को निखार कर अन्न उपजाता था, वह न भूमि का मालिक था और न स्वयं के द्वारा उपजाए गए अन्न का। इन दोनों का मालिक तो गांव से बहुत दूर शहरों में बैठा हुआ जमींदार था। अन्न उपजाने वाला किसान तो उसका सेवक मात्र था।

आचार्य विनोबा भावे का भूदान आंदोलन तब शुरू हुआ जब आंध्र प्रदेश के तेलंगाना का सशस्त्र अभियान जोरों पर था। मुख्य मुद्दा जमीन के न्यायोचित बंटवारे तथा भूमिपतियों के शोषण के उन्मूलन से जुड़ा था, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी इस अभियान का नेतृत्व कर रही थी, जिसे व्यापक जनसमर्थन प्राप्त था।

अप्रैल, 1951 में जब हैदराबाद जिले के शिवरामपल्ली नामक कस्बे में सर्वोदय समाज का तीसरा अधिवेशन हुआ तब वहां तेलंगाना आंदोलन की गूंज सभी कार्यकर्ताओं को सुनायी दी। स्थिति की सीधी जानकारी लेने के लिए आचार्य विनोबा भावे सर्वोदय– अधिवेशन के बाद 15 अप्रैल को तेलंगाना की पदयात्रा पर निकले। 18 अप्रैल को वे पोचमपल्ली पहुंचे। वहाँ किसानों और विशेषतः दलितों की भयानक विपन्नता के दृश्यों ने आचार्य को हिला दिया। परिणामस्वरूप आचार्य विनोबा ने विपन्नों की मदद के लिए गाँव में उपलब्ध साधनों की चर्चा की और जानना चाहा, "कि क्या वहाँ कोई ऐसा भूस्वामी है जो भूमिहीनों को जमीन दे सके? उत्तर में रामचन्द्र रेड्डी नामक एक भूमिपति ने भूमिहीनों के लिए 100 एकड़ जमीन देने का वचन दिया। स्वयं विनोबा जी ने ऐसी उदार प्रतिक्रिया की आशा नहीं की थी।"[38]

आचार्य विनोबा भावे द्वारा संचालित भूदान आंदोलन की यही शुरूआत थी। "विनोबा की यह तेलंगाना यात्रा इक्यावन दिन चली जिसमें वे 200 गाँवों में गए, 51 स्थानों पर रात्रि–विश्राम किया, लगभग 2,00,000 लोगों को संबोधित किया और 12201 एकड़ भूमि भूमिहीनों में बांटने के लिए भूदान यज्ञ में प्राप्त की।"[39]

तेलंगाना से परंधाम आश्रम, पवनार आने पर उन्होंने भूदान–यज्ञ की क्रियानीति व्यवस्थित ढंग से निश्चित की और भूदान कार्य के लिए वे 12 सितंबर 1951 को पुनः निकल पड़े।

जिस तरह तेलंगाना के पोचमपल्ली में भूदान की अवधारणा का उदय हुआ, वैसे ही उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले में मंगरौठ नामक गांव में 24 मई, 1952 को ग्रामदान की कल्पना को मूर्त रूप मिला। भूदान आंदोलन का लक्ष्य है कि गांव में कोई भूमिहीन न रहे और ग्राम दान का लक्ष्य है कि गांव में कोई भूस्वामी न रहे, वहाँ

कि सारी भूमि गाँव–सत्ता की मिल्कियत में आ जाए। "भूदान आंदोलन जहाँ इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए है कि पानी, हवा, धूप की भांति भूमि पर भी सबका अधिकार होना चाहिए और भूमि उसी की होनी चाहिए जो उसका समुचित उपयोग कर सके, वहीं ग्रामदान का लक्ष्य है कि भूमि सामूहिक रूप से गाँव की होनी चाहिए और व्यक्ति निजी उत्पादन के लिए उसका प्रयोग भले ही कर ले, उस पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होना चाहिए।"[40]

आचार्य विनोबा जी का यह आंदोलन 20वीं शताब्दी के छठे और सातवें दशक में एक सशक्त आंदोलन के रूप में विकसित हुआ, वैसे भूदान यज्ञ का सबसे महत्त्वपूर्ण चरण छठे दशक का है। 1964 तक भूदान के रूप में भूमिहीनों के निमित्त 42 लाख एकड़ से अधिक जमीन मिल चुकी थी। 31 जुलाई 1971 तक 1,68,000 से ऊपर गाँव ग्रामदानी बन चुके थे।

आचार्य विनोबा भावे हमारे देश के कोने–कोने में भूदान के लिए घूमें। जब उन्होंने पवनार से दिल्ली तक की यात्रा की तब तक उनको करीब 35 हजार एकड़ जमीन मिल चुकी थी। तेलंगाना में इसका दैनिक औसत 200 एकड़ था, अब 300 एकड़ रहा। "गांधी जी की शिक्षा और भारत की सांस्कृतिक परंपरा के कारण इस शांति–योजना को जनता से हार्दिक सहकार मिला। देश में करीब 30 करोड़ एकड़ जमीन है। मैंने उसका 1/6वां हिस्सा मांगा, क्योंकि एक भारतीय परिवार में साधारणतया पांच सदस्य रहते हैं। उस परिवार का छठा सदस्य जनता ही है। इसलिए उस भूमिहीन जनता के लिए मैंने छठे हिस्से की मांग की।"[41]

विनोबा जी आगे कहते हैं कि "यह सब मैं क्या कर रहा था? मेरा उद्देश्य क्या था? मैं परिवर्तन चाहता हूँ। प्रथम हृदय–परिवर्तन, फिर जीवन–परिवर्तन और बाद में समाज परिवर्तन।"[42]

विनोबा जी आगे कहते हैं कि– "मैं भूमि की समस्या शांति के साथ हल करना चाहता हूँ। मैं लोगों से दान में भूमि मांग रहा हूँ, भीख नहीं मांग रहा। एक ब्राह्मण के नाते मैं भीख मांगने का अधिकारी हूँ, लेकिन यह भीख मैं व्यक्तिगत नाते ही मांग

सकता हूँ। पर जहाँ दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि के तौर पर मांगना होता है, वहाँ मुझे भिक्षा नहीं मांगनी है। दीक्षा देनी है। इसलिए मैं इस नतीजे पर पहुंच चुका हूँ कि भगवान जो काम बुद्ध के जरिए करवाना चाहते थे, वह काम उन्होंने मेरे इन कमजोर कंधों पर डाला। मैंने माना कि यह धर्मचक्र–प्रवर्तन का कार्य है।"[43]

दिल्ली का दौरा करने और जवाहरलाल नेहरू तथा योजना आयोग से बातचीत करने के बाद उन्होंने उत्तरप्रदेश का भ्रमण किया। उत्तर प्रदेश के कार्यकर्त्ताओं ने मथुरा में उनका स्वागत किया और उन्होंने संकल्प किया कि एक साल के अंदर पांच लाख एकड़ जमीन वे विनोबा को भेंट करेंगे। परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश में इस आंदोलन ने जनांदोलन का रूप धारण किया। इसको देखकर गांधीजी के आंदोलन के दिन याद आ गए। "1952 के अप्रैल मास तक, जब बनारस के शिवपुरी नामक स्थान पर सर्वोदय कमियों का चौथा सम्मेलन आयोजित किया गया, इस प्रदेश में एक लाख एकड़ से अधिक भूमि मिल चुकी थी। इससे उत्साहित हो कर दो वर्षों के भीतर पूरे देश में 25 लाख एकड़ जमीन एकत्र करने का सम्मेलन ने संकल्प लिया। सम्मेलन के बाद विनोबा ने उत्तर प्रदेश का अपना दौरा जारी रखा और अंत में वर्षा ऋतु व्यतीत करने के लिए वह बनारस लौट आए।"[44]

विनोबा ने उत्तर प्रदेश से बिहार के लिए प्रस्थान किया। इस समय तक पूरे भारत में जो जमीन मिली थी, वह चार लाख एकड़ से कुछ ही कम रही होगी। इसमें उत्तर प्रदेश का योगदान 2,95,028 एकड़ था। अब तक यह आंदोलन तीन चरणों से गुजर चुका था। "पहला शांति स्थापना का चरण था जिसमें तेलंगाना की तरह की स्थानीय दिक्कतों को दूर करना शामिल था। दूसरा चरण लोगों का इस आंदोलन की ओर ध्यान आकर्षित करने का था जिसका उद्देश्य इस आंदोलन के विषय में लोगों में समझदारी विकसित कर इस ओर देश का ध्यान खींचना था। तीसरे चरण में उत्तर प्रदेश में इस काम के प्रति आस्था सुदृढ़ हुई। कार्यकर्त्ताओं में इससे विश्वास पैदा हुआ कि वे भूमि एकत्र कर सकते हैं।"[45]

बिहार की पदयात्रा के साथ ही यह आंदोलन चौथे चरण में पहुंचा जहाँ काफी बड़े स्तर पर भूमि दान में मिली जहां प्रयास किया गया कि जोतने योग्य जमीन का छठा भाग दान में प्राप्त हो। इसमें प्रवेश के साथ ही विनोबा ने 50 लाख एकड़ लक्ष्य निर्धारित किया। वह देखना चाहते थे कि इस लक्ष्य तक पहुंचने में कहां तक सफलता मिल सकती है। बाद में घटाकर इसे 32 लाख एकड़ कर दिया गया। बिहार में कुछ 22 लाख के लगभग भूमि दान में प्राप्त की गई।

बिहार में विनोबा ने पश्चिम बंगाल में प्रवेश किया। बंगाल में वे सिर्फ 25 दिन ही रूके इस संक्षिप्त और आकस्मिक प्रवास के दौरान उनको दान में अधिक जमीन नहीं मिली लेकिन उन्हें वहां के प्रसिद्ध साहित्यकारों, अध्यापकों, सामाजिक कार्यकत्ताओं और राजनीतिज्ञों का पर्याप्त समर्थन मिला

इसके बाद 1955 में गणतंत्र दिवस पर विनोबा ने उड़ीसा में प्रवेश किया और इसके साथ ही माना जाना चाहिए कि आंदोलन अपने आखिरी चरण में पहुंच गया। उड़ीसा में इस आंदोलन में इतना गुणात्मक परिवर्तन हुआ कि अपने सीमित अर्थों में भूदान शब्द इसके लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ता। "भूदान के आधारभूत विचार में यह परिवर्तन विद्यमान था कि सारी जमीन भगवान की है और उस परिस्थिति में इसका पुष्पियत पल्लवित होना प्रत्याशित था। विनोबा ने इसको भूदान का पाँचवां और अंतिम चरण माना था तथा इसको भूमिक्रांति की संज्ञा प्रदान की थी। इसको उन्होंने ग्रामदान कहा था जिसमें 80 प्रतिशत अथवा इससे भी अधिक ग्रामीण लोग अपनी जमीन ग्राम समुदाय को समर्पित करते थे ताकि उसका समान वितरण किया जा सके तथा इस प्रकार दी गई जमीन गांव की कुल जमीन के 50 प्रतिशत से कम नहीं हुआ करती थी।"[46]

यह आंदोलन देश के अनेक राज्यों में फैला बंगाल के बाद उड़ीसा, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, राजस्थान, कश्मीर, पंजाब, मध्यप्रदेश असम आदि।

आज के युग की आवश्यकता क्या है, और उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है, इसमें एक–एक खोज हो रही है। विनोबा जी के शब्दों में– "पहले में कहता था कि

थोड़ा भूदान दो, फिर छठा हिस्सा जमीन मांगने लगा। उसके बाद कहने लगा कि गांव में कोई भी भूमिहीन न रहे, इसका ख्याल करो। फिर तो समझाने लगा कि जमीन की मिल्कियत रखना गलत बात है। हवा–पानी–सूरज की रोशनी के जैसे ही जमीन भी सबकी है फिर ग्रामस्वराज्य, शांति सेना और अब सर्वोदय–पात्र की बात कहता रहता हूँ। एक बार रास्ते में एक वटवृक्ष देखा। मेरे मन में विचार आया कि भूदान का काम इस वृक्ष के समान ही है– नयी–नयी शाखाएं फूटने वाला, नित्यनूतन पल्लवित होने वाला चैतन्य वृक्ष।"[47]

एक अन्य उदाहरण स्वरूप 1954 में आचार्य विनोबा ने कहा– "एक नए आधार पर समाज की हम पुनर्रचना करना चाहते हैं? भूदान कार्य के पीछे यही उद्देश्य निहित है, यह सिर्फ भूमि एकत्र करने का आंदोलन नहीं है। हम नए मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं– नैतिकता को सामाजिक जीवन का निर्देशक सिद्धांत बनाने के लिए, अर्थशास्त्र को उसके अधीन करना चाहते हैं जिसको आज के युग में अनावश्यक महत्त्व प्राप्त है। हमारे लिए मूल्यों के अहिंसक और शांतिपूर्ण परिवर्तन के लिए भूदान एक उपकरण है।"[48]

इसके बावजूद जब भूदान के विरोधी विनोबा को धनिक लोगों तथा भूस्वामियों के एजेंट के रूप में देखते थे तब विनोबा का उत्तर होता था– "सच्चाई यह है कि मैं गरीबों का दलाल हूँ। मैं उनका मामला पेश कर रहा हूँ। मैं उनके बीच रह चुका हूँ और उन्हीं लोगों की तरह अपने जीवन को ढालने की कोशिश की है। लेकिन में बड़े भू–स्वामियों का भी दलाल बनना चाहता हूँ, बशर्ते कि वे मुझको अपनी जमीन उदारतापूर्वक दें।"[49]

भूदान का विचार काफी व्यापक था, इस अर्थ में यह जमीन तक ही सीमित नहीं था। जैसा कि विनोबा ने 1955 में कहा था "भूदान का मूल विचार यह कि मनुष्य के पास जो कुछ भी है धन, प्रतिभा अथवा इसी प्रकार की अन्य सारी चीजें, वे समाज की हैं वह समाज के पास ही होनी चाहिए। यदि कोई इसको अपने पास रखता है तो वह उसका न्यासी है।"[50]

न्यासी की अपनी अवधारणा को विनोबा ने अनेक अवसरों पर स्पष्ट किया था। इसका अंतिम निहितार्थ था व्यक्तिगत संपत्ति का उन्मूलन कर उसे सामाजिक संपत्ति में बदलना जिसमें संपत्ति लाभ सभी को मिल सके। भूदान का दान शब्द खैरात के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, बल्कि इसका आशय समान वितरण है, इसी अर्थ में इसका प्रयोग आदि शंकराचार्य ने भी किया था। ऐसे भी अवसर आए जब विनोबा ने बेकार जमीन भूदान के रूप में लेने से बड़े भूस्वामियों से यह कह कर इनकार किया था कि वह खैरात नहीं मांग रहे हैं बल्कि चाहते थे कि बड़े भूस्वामी नए जीवन मूल्य अपना कर आरंभ करें। एक अन्य अवसर पर उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहा था कि इस प्रकार की जमीन स्वीकारने से देने वाले तथा लेने वाले, दोनों को कलंकित होना पड़ेगा।

समय–समय पर भूदान को लेकर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ की गई और विनोबा को उनका जवाब देना पड़ा था। एक आरोप यह था कि वह गरीबी बांट रहे हैं। इसके उत्तर में उन्होंने कहा– "यदि देश में गरीबी है तो लोगों की इसमें भी भागीदारी होनी चाहिए वास्तव में यह गरीबी बांटने का आंदोलन नहीं है। यह लोगों का दिल जोड़ने वाला आंदोलन है।"[51]

जो लाग यह तर्क देते थे कि छोटे–छोटे खेतों के टुकड़े खेती के लिए उपयुक्त नहीं थे, खर्चीले थे, उनको विनोबा का उत्तर था– "जमीन के उस छोटे टुकड़े को कोई अपने पास रखे रहे कि इसे देने से उपज कम होगी, इसका कोई आधार नहीं है। क्योंकि हमें मालूम है कि लोगों की दिलचस्पी निजी खेती में है–"[52] उन्होंने यह बात भी स्पष्ट की कि उनके आंदोलन का आधार सकारात्मक विचारधारा है, यह कम्युनिस्टों के प्रतिरोध के लिए नहीं बनी है। उन्होंने कहा था कि "सूर्य की किरणें अंधकार का प्रतिरोध नहीं है।"[53]

जैसे–जैसे भूदान आंदोलन आगे बढ़ा वैसे ही इसका व्यापक अर्थ लोगों के सामने स्पष्ट होने लगा। जिस 'साधन दान' की ऊपर चर्चा की गई है और जिसका श्री गणेश उत्तर प्रदेश में हुआ था, बाद में चलकर विनोबा ने संपत्ति दान जोड़ दिया

था। श्रमदान भी उसमें जुड़ गया था। श्रमदान बिहार में जुड़ा था। कुछ लोग बुद्धिदान की चर्चा भी चला रहे थे यानि किसी की निःशुल्क बौद्धिक सेवा करना'। आचार्य विनोबा का मानना था– "कि तथाकथित संपत्तिशाली लोगों के पास ही देने के लिए सब कुछ नहीं है बल्कि तथाकथित 'वंचितों' के पास भी समाज को देने के लिए काफी कुछ है। किसी न किसी रूप में उनके पास भी संपत्ति है।"[54]

श्रमदान की उम्मीद सभी से की जाती है, इससे सिर्फ शारीरिक रूप से अक्षम लोग (विकलांग) छूट ले सकते थे जब कि संपत्तिदान केवल धनीमानी लोगों से लिया जाता था, उनकी संपत्ति या आमदनी के हिस्से के रूप में। 1952 में विनोबा ने कहा था– "भूदान से संपत्तिदान का कदम स्वाभाविक था और इसका विचार मुझे भूदान के दौरान ही आया था। किंतु चूंकि भूमि की समस्या, बहुत महत्त्वपूर्ण थी, इसलिए मैंने अपनी शक्ति इसी पर खर्च की। बहरहाल, जब भूदान का काम आगे बढ़ा यह बात धीरे–धीरे साफ हो गई कि आंदोलन के पीछे छिपे विचार को तब तक मूर्त रूप नहीं दिया जा सकता जब तक कि हम आगे न बढ़ें और संपत्ति अथवा धन का एक भाग भी न मांगें।"[55]

अपने दर्शन और दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए विनोबा कार्यकर्त्ताओं की बड़ी सभाओं अथवा सर्वोदय सम्मेलनों का उपयोग करते थे। इसमें वह अपनेदर्शन के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या किया करते थे। एक बार कार्यकर्त्ताओं को संबोधित करते हुए विनोबा ने कहा था– "स्वराज्य मिलने के बाद हमारा लक्ष्य 'साम्ययोग की स्थापना होनी चाहिए यानी समानता का योग। हमने इसका नाम सर्वोदय रखा है। आप चाहे किसी भी नाम से इसको पुकार सकते हैं।"[56]

आचार्य विनोबा के साम्य योग के सिद्धांत में कई बातें शामिल हैं– "मसलन किसी व्यक्ति की बौद्धिक या आध्यात्मिक सेवा का कोई मूल्य नहीं आंका जा सकता और सबके लिए पारिश्रमिक का आधार एक ही होना चाहिए, चाहे वह भारत का राष्ट्रपति हो, एक किसान हो अथवा सफाई कर्मी हो। लेकिन इसका अर्थ किसी प्रकार की गणितीय समानता नहीं है। यह समानता उसी प्रकार की है जैसे मनुष्य की पाँच

अँगुलियों के बीच होती है। ये अँगुलियां एक दूसरे के साथ सहयोग करने में कोई बाधा नहीं बनती, जबकि वे एकदम बराबर नहीं होती हैं।"[57]

विनोबा ने अपना भूदान का संदेश पूर्वी पाकिस्तान में भी जारी रखा, जब पूर्वी पाकिस्तान में उन्होंने प्रवेश किया तो काफी बड़ी भीड़ ने उनका स्वागत किया । "पहले ही दिन विनोबा को एक एकड़ जमीन तोहफे में मिली और जब उन्होंने पाकिस्तान छोड़ा था, भूदान में 150 बीघा जमीन मिल चुकी थी। इस जमीन को वहां के भूमिहीनों में बांट दिया गया, इनमें हिंदू और मुसलमान दोनों श्रमों के लोग थे। यह काम उनके सामने ही किया गया था। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि पाकिस्तान यात्रा के दौरान विनोबा को लगभग सवा लाख लोगों ने सुना होगा।"[58]

आचार्य विनोबा भावे ने भारत भर में भूदान का काम करने के लिए जिले–जिले में भूदान–समितियाँ बनाई थी। जमीन किन को, कितनी और किस विधि से दी जाए। इस संबंध में विनोबा जी ने स्वयं कुछ नियम बनाए हैं जिनके मुख्य बिन्दु हैं–

"(क) गांव में वितरण के दिन की पूर्व सूचना देना तथा दान की जमीन की माप करना।

(ख) निर्धारित तिथि को पूरे गांव की उपस्थिति में बेजमीनों की सूची तैयार करना। यदि बेजमीन ज्यादा हैं और जमीन कम हैं तो किस को जमीन दी जाए इसका निर्णय भूमिहीनों के द्वारा ही सर्वसम्मति से किया जाता। कोशिश हो कि एक व्यक्ति को यदि उपलब्ध हो तो इतनी जमीन दी जाए जिससे परिवार का गुजर बसर हो। किसान के लिए स्वयं खेती अनिवार्य माना गया । जमीन की बिक्री या रेहन नहीं हो सकती है। दान पाने वाले की मृत्यु के बाद जमीन उत्तराधिकारियों की होती है।

(ग) भूवितरण के बाद आम सभा में जमीन के पूर्ण विवरण के साथ आदाता (एलॉटी अर्थात् भूदान की जमीन पाने वाले किसान) को 'प्रमाण–पत्र' दिया जाता है।

(घ) इस प्रमाण पत्र के आधार पर आदाता के नाम राजस्व अभिलेख दर्ज होता है। यदि जमीन पर लगान (रेट) निर्धारित नहीं था तो लगान निर्धारण होता है। यदि

बड़े भूखंड (प्लॉट) का हिस्सा मिला है तो इस का क्षेत्र और सीमा निर्धारण होता है। इस पूरी प्रक्रिया को दाखिल खारिज (म्यूटेशन) कहते हैं।"[59]

भूदान आंदोलन लगभग पूरे भारत देश में चला था परंतु कुछ ही राज्यों में इस आंदोलन को व्यापक सफलता मिली तथा अन्य राज्यों में इसका प्रतिशत काफी कम रहा, नीचे इस आन्दोलन में भूमि प्राप्ति का राज्य सहित वर्णन दिया जा रहा है।

भारत में भूदान

क्र.	राज्यों के नाम	दान में प्राप्त भूमि एकड़ में	वितरित भूमि एकड़ में	दान की भूमि पाने वाले परिवार	सरकार द्वारा वन आदि की अधिग्रहित तथा आम उपयोगी भूमि	अवतरित भूमि एकड़ में
1.	असम	11935	877	851	अप्राप्त	11000
2.	आंध्र प्रदेश	241952	102033	30449	86385	53534
3.	उत्तर प्रदेश	434351	417621	70000	अप्राप्त	16730
4.	उत्कल	185782	96464	42614	अप्राप्त	89318
5.	कर्नाटक	24000	8000	8000	अप्राप्त	16000
6.	केरल	626293	5774	5000	7999	12520
7.	गुजरात	103530	50984	10270	अप्राप्त	52546
8.	तमिलनाडु	51330	23400	16000	अप्राप्त	27930
9.	पंजाब–हरियाणा	14739	4377	786	3380	6972
10.	बिहार	2127453	711374	566267	124303	154776
11.	पश्चिम बंगाल	12960	3890	300	8426	644
12.	मध्य प्रदेश	405786	229160	59805	56716	119910
13.	महाराष्ट्र	105094	9790	15546	23144	1960
14.	राजस्थान	432863	142700	14124	142699	147469
15.	दिल्ली	300	180	100	120	—
16.	जम्मू कश्मीर	211	211	110	अप्राप्त	—
17.	हिमाचल प्रदेश	5240	2531	1500	अप्राप्त	2709
	योग	**4183824**	**1879576**	**1965368**	**1590172**	**714076**

देश के कुल ग्राम दान

क्र.	राज्यों के नाम	तूफान के पहले ग्रामदान	तूफान के बाद 1969 तक के कुल ग्रामदान	प्रखंडदान	जिलादान	स्पुष्ट ग्रामदान
1.	असम	966	1048	1	—	1027
2.	आंध्र प्रदेश	651	4231	14	–1	781
3.	उत्तर प्रदेश	56	25729	147	5	228
4.	उत्कल	2405	21622	70	1	2700
5.	कर्नाटक	58	1156	4	–	5
6.	केरल	559	418	–	–	403
7.	गुजरात	164	1040	3	–	259
8.	तमिलनाडु	254	14004	143	4	429
9.	पंजाब–हरियाणा	6	3986	17	–	49
10.	बिहार	121	60065	574	15	4078
11.	पश्चिम बंगाल	347	748	–	–	410
12.	मध्य प्रदेश	191	7925	39	5	607
13.	महाराष्ट्र	790	4000	17	–	1453
14.	राजस्थान	324	1736	1	–	572
15.	दिल्ली	1	73	–	–	–
16.	हिमाचल प्रदेश	4	17	–	–	4
17.	जम्मू कश्मीर	–	1	–	–	–
	योग	**6807**	**140000**	**1030**	**31**	**13059**

स्रोतः निर्मल चन्द्र – "भूमि समस्या और भूदान"

इस तालिका तिथि से स्पष्ट होता है कि आचार्य विनोबा भावे द्वारा चलाया गया भूदान आंदोलन कितना सफल व असफल रहा है। भारत भर में भूदान का काम करने के लिए जिले–जिले में भूदान समितियाँ बनाई गई थी। हिन्दुस्तान के 300 जिलों में से 250 जिलों में भूदान–समितियाँ काम कर रही थी। ये समितियाँ धीरे–धीरे टूटती

चली गईं। भूदान समितियाँ टूटने का परिणाम दोनों तरह का हुआ। कुछ प्रांतों में तो जहाँ पहले 40–50 कार्यकर्ता ही थे, वहाँ सैकड़ों हो गए और कुछ प्रांतों में जहाँ पहले 40–50 कार्यकर्ता थे, वे भी गिर गए।

जब हम कहते हैं कि भूदान में 42 लाख एकड़ जमीन मिली तो एक विराट दर्शन होता है, पर जब गणित लगाते हैं कि 5 करोड़ के लक्ष्य में मात्र 8.4 प्रतिशत पूरा हुआ तो 42 लाख छोटा दीखने लगता है और जब आंकड़ा सामने आता है कि 9 लाख पैंसठ हजार तीन सौ अड़सठ परिवार को 18 लाख 7980576 एकड़ जमीन मिली तो पुनः एक विराट रूप सामने आता है। देश की सभी राज्य सरकारें मिलकर जितनी जमीन भूमिहीनों में बांट सकीं उससे थोड़ी ज्यादा ही जमीन बेजमीनों को भूदान से मिली।

इस अभूतपूर्व आंदोलन के विषय में राजनीति–शास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों के विचार, स्वाभाविक हैं, एक से नहीं हैं। "एक ओर इसे हिंसा और लोभ के ऊपर सौहार्द और सहज मानवीय उदारता की विजय के रूप में देखा गया है और इस रूप में उसे सामाजिक विषमता के निवारण का एक अमोघ अस्त्र समझा गया है, दूसरी ओर इसे प्रगति–विरोधी, क्रांतिविरोधी और बड़े भू–स्वामियों का पोषक मानकर इसकी उपेक्षा की गयी है।"[60] जो भी हो, दीर्घकालीन अनुभव से जिसे पहले भी देखा जा सकता था, यह प्रकट हो गया है– "कि यह आंदोलन गांवों में एक जटिल आर्थिक और सामाजिक दुर्व्यवस्था का कोई उल्लेखनीय व्यावहारिक और स्थायी समाधान नहीं दे पाया है। इसकी प्रमुख उपयोगिता ग्रामीण नागरिकों में कुछ समय के लिए अपने समाज के प्रति उनके दायित्व–बोध को सजग भर करने में रही है।"[61]

आँकड़ों के अनुसार भूदान और ग्रामदान के क्षेत्र में बिहार देश के अन्य राज्यों में सबसे आगे रहा है। "1964 तक पूरे देश में भूदान से प्राप्त 42.27 लाख एकड़ भूमि में 21.33 लाख एकड़ अकेले बिहार का हिस्सा है। उसी प्रकार जुलाई, 71 तक पूरे देश के 1.68 लाख ग्रामदानी गाँवों में लगभग 60,000 गांव बिहार के हैं। फिर भी आज 1997 में– छोटे–किसानों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की दशा बिहार में,

दूसरे राज्यों के मुकाबले, संभवतः सबसे ज्यादा विषम है और भूदान जैसे शांतिपूर्ण और उदात्त आंदोलन में अग्रणी रह चुकने के बावजूद बड़े भू–स्वामियों के खूंख्वार संगठनों का भयावह विस्तार तथा छोटे किसानों और खतिहर मज़दूरों के पक्षधर हिंसक संगठनों का परिदृश्य सबसे ज़्यादा हमें वहीं देखने को मिल रहा है।"[62]

संदर्भ

1 सं. ईश्वरी प्रसाद, भारत का किसान आंदोलन, पृ.1–2

2 वही, पृ.16–17

3 वही, पृ.17

4 वही, पृ.18

5 सुबहसिंह यादव, ग्रामीण विकास के नए क्षितिज, पृ.113

6 वही, पृ.113

7 वही, पृ.116–117

8 बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ.19–20

9 वही, पृ.20

10 वही, पृ.20

11 वही, पृ.21

12 वही, पृ.21

13 वही, पृ.21–22

14 वही, पृ.23

15 वही, पृ.23–24

16 वही, पृ.26

17 वही, पृ.24–25

18 वही, पृ.25

19 वही, पृ.145

20 वही, पृ.145

21 वही, पृ.146

22 वही, पृ.149

23 वही, पृ.153

24 वही, पृ.153

25 वही, पृ.153–154

26 वही, पृ.154

27 वही, पृ.156

28 सुबह सिंह यादव, ग्रमीण विकास के नये क्षितिज, पृ.115–116

29 वही, पृ.116

30 वही, पृ.117

[31] वही, पृ.117

[32] वही, पृ.117

[33] सं. ईश्वरी प्रसाद, भारत का किसान आंदोलन, पृ.32

[34] वही, पृ.33

[35] सुबह सिंह यादव, ग्रमीण विकास के नये क्षितिज, पृ.117–118

[36] विश्वनाथ टंडन, आचार्य विनोबा भावे, पृ.6

[37] श्री कृष्णदत्त भट्ट, बाबा विनोबा, पृ.7

[38] श्रीलाल शुक्ल, बिश्रामपुर का संत, पृ.206

[39] वही, पृ.206

[40] वही, पृ.207

[41] विनोबा, अहिंसा की तलाश, पृ.127

[42] वही, पृ.127

[43] वही, पृ.127–128

[44] विश्वनाथ टंडन, आचार्य विनोबा भावे, पृ.55

[45] वही, पृ.56

[46] वही, पृ.58

[47] विनोबा, अहिंसा की तलाश, पृ.149

[48] विश्वनाथ टंडन, आचार्य विनोबा भावे, पृ.60

[49] वही, पृ.60

[50] वही, पृ.60

[51] वही, पृ.60–61

[52] वही, पृ.61

[53] वही, पृ.61

[54] वही, पृ.61

[55] वही, पृ.61

[56] वही, पृ.62

[57] वही, पृ.62

[58] वही, पृ.96

[59] निर्मलचन्द्र, भूमि समस्या और भूदान, पृ.28

[60] श्रीलाल शुक्ल, बिश्रामपुर का संत, पृ.207

[61] वही, पृ.207

[62] वही, पृ.208

द्वितीय अध्याय

'बिसामपुर का संत' में अभिव्यक्त भूदान आंदोलन का स्वरूप

'बिस्रामपुर का संत' और भूदान आंदोलन की पृष्ठभूमि

'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास का परिवेश वैसे तो बिस्रामपुर तक ही सीमित है परन्तु उसकी चेतना का विस्तार भौगोलिक हदों को तोड़ते हुए व्यापक रूप में स्वतंत्रता के बाद उपजी हमारी मानसिकता के उस छोर से जा टकराता है जो मूल्य–मूढ़ता की खाद पर पनपी है। परिवेश की रचना को इतने व्यापक धरातल पर उठाते हुए हमारी मूल्यहीनता और चारित्रिक विघटन की संपूर्ण मानसिकता को अर्न्तमुक्त कर सकता है। सदी के उत्तरार्ध में हिन्दी के शायद ही किसी उपन्यास ने हमारी अवांछनीय शक्तियों के उदय का नपुंसक, पलायनवादी और ह्रासोन्मुखी बौद्धिकता की इतनी यथार्थवादी और मुकम्मल पड़ताल की हो। जीवन यथार्थ के समानांतर अपने परिवेश की यह कृति निर्मम व्याख्या करती है।

'बिस्रामपुर का संत' आचार्य विनोबा भावे के भूदान आंदोलन पर केन्द्रित उपन्यास है इसका मुख्य चरित्र कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह है जिसकी उम्र लगभग अस्सी साल की है। और वे एक भूतपूर्व ताल्लुकेदार हैं और फिलहाल एक बड़े प्रांत के राज्यपाल। राज्यपाल के रूप में उनका दूसरा दौर समाप्त होने वाला है। कहानी उनकी स्मृतियों के ताने–बाने में गुँथी हुई है। स्मृतियाँ उनके वर्तमान को तनावपूर्ण बनाती जाती है। स्मृतियों के अतिरिक्त राज्यपाल पद की पुनः प्राप्ति का तनाव भी सतत बना रहता है। इन्हीं स्मृतियों का दंश उन्हें एक ऐसे नाटकीय मोड़ पर पहुंचाता है, जहाँ से उन्हें आत्मघात के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं सूझता और पद–प्राप्ति की असमर्थता उन्हें एक निहायत कृत्रिम और पाखंडी व्यक्तित्त्व में तब्दील कर देती है।

कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के चरित्र की धुरी के वृत्त में प्रमुख रूप से तीन पात्र हैं– जयश्री, सुंदरी और विवेक। राज्यपाल पद की प्राप्ति एवं भूदान–ग्रामदान भी उनके चरित्र की धुरी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण वृत्त है।

1950–51 के साम्यवादियों के नेतृत्व में आंध्र प्रदेश के तेलंगाना में भूस्वामियों के खिलाफ किसानों का आंदोलन चल रहा था। एक ओर साम्यवादियों के खिलाफ पुलिस का दमन–चक्र, दूसरी और भूमिपतियों पर उग्र और हिंसात्मक हमले–तेलंगाना की स्थिति विस्फोटक थी। 18 अप्रैल 1951 को आचार्य विनोबा भावे अपने दल–बल के साथ पोचमपल्ली पहुँचे। वहाँ किसानों और विशेषतः दलितों की भयानक विपन्नता के दृश्यों ने आचार्य को हिला दिया। उनके विकास के लिए सरकारी सहायता की बात उठने पर उन्होंने कहा कि अगर हम खुद ही अपनी सहायता नहीं कर सकते तो सरकारी सहायता से क्या होगा। उन्होंने विपन्नों की मदद के लिए गाँव में उपलब्ध साधनों की चर्चा की और जानना चाहा कि क्या वहाँ कोई ऐसा भूस्वामी है जो भूमिहीनों को जमीन दे सके? उत्तर में रामचंद्र रेड्डी नामक एक भूमिपति ने भूमिहीन के लिए 100 एकड़ जमीन देने का वचन दिया। आचार्य विनोबा भावे द्वारा इस संचालित भूदान आंदोलन की यही शुरूआत थी।

1952 की गर्मियाँ। जमींदारी प्रथा समाप्त होने के कुछ महीने पहले आचार्य विनोबा भावे अपने दलबल सहित उस क्षेत्र में भूदान यज्ञ का मंत्र फूँकने आये। उस समय एक समाजवादी आंदोलन में कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के बड़े भाई– राजा साहब जेल चले गए थे। ताल्लुकेदारी का प्रबंध कुँवर साहब ही देख रहे थे। भूदान यज्ञ की चर्चा शास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों आदि में न मिलेगी। आचार्य विनोबा भावे उसके आदि प्रस्तोता थे, वही उसके पहले अधिष्ठाता, वही ऋत्विक,वही यजमान। इस यज्ञ के बारे में उनका सार्वजनिक संदेश बड़ा सीधा था। उन्होंने कहा– हवा और धूप एक की नहीं, सबकी है। वैसे ही जमीन भी। आचार्य विनोबा भावे अपने सिर को एक हरे रूमाल से ढके, खिचड़ी दाढ़ीवाले निस्तेज चेहरे में प्रबल आत्म तेज छिपाये, पतली काया पर बेफ़िक्री से सूती चादर डाले गांव–गांव में अलख जगाते घूम रहे थे। साथ में श्रृद्धालु भक्तों और कार्यकर्ताओं का भारी जमाव व अपने पूरे दल के साथ जब विनोबा कुँवरजयंती प्रसाद सिंह के पास गए तब कुँवर जयंती प्रसाद सिंह अचानक आचार्य के पास जाकर खड़े हो गए। एक जिलेदार ने उनके हाथ में एक बड़ा–सा लिफाफा

पकड़ा दिया, वे आचार्य को प्रणाम करके बोले, "अशिष्टता तो है पर आपके पहले दो शब्द बोलकर कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।"[1] परिणामस्वरूप आचार्य ने दोनों हाथ जोड़कर माथे की ओर उठाए। यह अनुमति थी। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह बोले, "हवा और धूप की तरह धरती माँ भी हम सब की है। आज इस क्षेत्र में आचार्य जी के पदार्पण के अवसर पर हम इसे प्रमाणित भी करना चाहते थे। पर आप जानते ही हैं, इस सारी भूमि के कानूनी मालिक बड़े भैया हैं। वे इस समय जेल में हैं। कुछ का भाग्य ही ऐसा होता है। ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने उन्हें बरसों जेल में रखा था। अब हमारी अपनी सरकार–स्वतंत्र भारत की सरकार भी उन्हें जेल से बाहर रखने में खतरा महसूस करती है। उनके यहाँ न होने से हम जो चाहते थे वह नहीं हो पा रहा है।"[2]

कुँवर जंयतीप्रसाद सिंह आगे कहते हैं कि "फिर भी, मेरे पास अपनी कुछ निजी जायदाद है। उसके दो गांवों को मैं भूदान यज्ञ में अर्पित करता हूँ। यह भूदान नहीं है, उन गांवों के सभी किसानों की ओर से और खुद मेरी ओर से यह ग्रामदान है।"[3]

कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह द्वारा अपनी इस ग्रामदान की कार्रवाई में भूदान आंदोलन में कैसी भी आस्था के बजाय उनका जोर पहले ग्रामदानी का श्रेय प्राप्त करना था। उसी समय एक स्थानीय मजिस्ट्रेट ने ऊँची आवाज में कहा, "भारत का ही नहीं, संसार में अपने ढंग का शायद यह पहला ग्रामदान है।"[4] साथ ही किसी दूसरे प्रशंसक ने कहा, दो गांव है, इसलिए पहला और दूसरा भी। प्रशंसा की दुनिया में हर बात सही होती है, यह भी थी। पर इतिहास के हिसाब से यह गलत थी। पहला ग्रामदान उनके पूर्व बेतवा नदी के किनारे मँगरोठ नाम के गांव में हो चुका था। वहाँ पर मौजूद अनेक सर्वोदयी यह बात जानते थे। पर किसी ने इस प्रशंसा का खंडन नहीं किया। क्योंकि यह मौका खंडन का नहीं था।

एक सिरफिरे खेतिहर ने कहा, "इन गांवों में धरा क्या है? आधे से ऊपर तो ऊसर–बंजर बीहड़ है।"[5] कई लोग यह बात भी जानते थे पर किसी ने इस निंदा का भी खंडन नहीं किया। यह मौका किसी भी प्रकार के खंडन का नहीं था।

भूदान आंदोलन से जुड़े पात्र और उनका दृष्टिकोण

विनोबा के दल के प्रमुख कार्यकर्ताओं से कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह का परिचय होता है। यह नवयुवक ने उनके पास आकर धीरे से कहा, "मैं निर्मल भाई हूँ। आपने जो उद्‌भुत उदारता दिखाई है उसके बाद मुझे यहाँ कई महीने रूककर पूरी व्यवस्था देखनी होगी।"[6] जवाब में उन्होंने कहा, "इसकी चिंता न करें। मैं भूदान कार्यालय और आपके निवास के लिए कोठी के बाहरी हिस्से में कुछ कमरों की व्यवस्था कर दूँगा।" "और मैं सुन्दरी।"[7] इनके साथ सुशीला बेन भी थी।

'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास की शुरूआत राज्यपाल कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के सपने से होती है। अस्सी वर्ष की उम्र में, जबकि राज्यपाल के रूप में उनके कार्यकाल का थोड़ा ही समय रह गया है, वे सपने में देखते हैं कि वे पच्चीस–छब्बीस साल पहले वाले कुँवर जयंती प्रसाद सिंह हैं, देखे गए सपने में 'वह' उनकी बाँहों में न होकर वे खुद ही उसकी बाँहों में थे। सपने में आयी स्त्री की सूरत उनके आगे साफ नहीं थी। वह जयश्री भी हो सकती थी और सुंदरी भी। इस सपने के बाद वे सुंदरी के बारे में सोचने लगते हैं। दूर की संबंधी, विवाहिता जयश्री उनके जीवन में तब आयी जब वे विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। हॉस्टल के मेस में मिलने वाले खाने से परेशानी की हालत में उनकी व्यवस्था उसके परिवार में की गयी थी। एक तरह से जयश्री उनके जीवन में आयी पहली स्त्री थी। उसका पति इंग्लैण्ड में पढ़ रहा था और वह सास–ससुर के साथ रहती थी। रेलवे लाइन के पास वाले मकान में शंटिंग करती और निकलने वाली गाड़ियों की शोर भरी आवाजों के बीच बेहद कामकाजी ढंग से गहरे तनाव और आशंका के बीच उनकी यह देह यात्रा चली थी। उसके बाद भी जयश्री एक बार उन्हें मिली थी अपने परिवार के बीच एक प्रौढ़ होती स्त्री की गरिमा के साथ। लेकिन तब पूरे अवसर के बावजूद उसकी ओर से बरती गयी उदासीनता को उन्होंने इस संबंध की समाप्ति की घोषणा के रूप में लिया था। जिसकी कुछ कौतुक भरी स्मृतियाँ ही उनके साथ बची हुई थी।

'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास में लेखक का उद्देश्य भूदान आंदोलन के कार्यों की वास्तविक स्थिति इससे जुड़े सर्वोदयी और गाँधीवादी चरित्रों का उद्‌घाटन और उनका ब्यूरोक्रैसी या सत्ता से संबंधों की साँठ–गाँठ और ग्रामदान तथा भूदान वाले गाँवों की दुर्दशा को दर्शाना तथा व्यवस्था की विकृति का उद्‌घाटन करना रहा है। साथ ही इस उपन्यास की कथा भूदान आंदोलन की पृष्ठभूमि पर रचित होने के बावजूद मात्र भूदान आंदोलन की असफलता को दिखाना ही इसका लक्ष्य नहीं है बल्कि यह उपन्यास उस वर्ग की मूल मानसिकता को भी परिलक्षित करता है जो सत्ता लोलुप, धन लोलुप, स्वार्थी या हर तरह के विकास को दबोच कर अपने हित में उसे मोड़ता है। इस उपन्यास में एक ओर भूदान आंदोलन का इतिहास है, जिसमें उसके गुण और दोष पात्रों के द्वारा सर्वोदयी, गाँधीवादी और भूदान आंदोलन कार्यों के 'लाइफकल्चर' की भी 'ट्रुथ एनालिसिस' है। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के द्वारा एक प्रौढ़ विलासी पुरूष मन के मनोभावों और मनोविकारों की कुख्य जटिलताओं का सरल विश्लेषण है। जयश्री, सुंदरी और सुशीला के द्वारा उनके मन के अंतरंग आत्मसंघर्ष और अतृप्त भोगेषणाओं को भी मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है जिसके द्वारा लेखक ने एक ओर तो बिस्रामपुर के संत का जीवन–रहस्य और कार्य निष्ठा को उजागर किया है तो दूसरी ओर उपन्यास की सरसता और प्रभावशीलता को बचाया है।

'बिस्रामपुर का संत' में जगह–जगह भूदान, सर्वोदय, अन्त्योदय, सहकारी खेती, गाँधीवाद, मार्क्सवाद को लेकर बहुत दिलचस्प जिरह है। इस जिरह में लगभग सभी पात्र शामिल हैं। सरकारी खेती की विफलता का नतीजा है कि किसान धीरे–धीरे अपनी खेती–बारी से बेदखल हो गए। उपन्यास में रामलोटन नामक किसान का यह वक्तव्य एक भारतीय किसान का पुश्तैनी दर्द है– "आदमी से मैं नहीं डरता मालिक, न बाघ बघेरे से। डर मुझे कागज से लगता है। कागज ने हमारी जमीन कैसे ले ली, मैं नहीं जानता। सारी बात मंत्री जी जानते हैं वहीं बताएँगे।"[8] कागज का यह डर ही भारतीय किसान की मूल विडम्बना है। इस उपन्यास में किसानों के इस डर को बहुत बारीकी से उपन्यासकार का देहाती किसान खोलता है। ऐसा लगता है कि श्रीलाल

शुक्ल के पास किसान जीवन की विडम्बनाओं, गांव की भीतरी राजनीति में पिसते साधारण आदमी के अनुभवों की एक विराट गाथा मौजूद है जिसे वे पूरे उपन्यास में जहाँ–तहाँ बड़े कौशल के साथ खोलते हैं।

सरसरी तौर पर 'बिस्रामपुर का संत' विनोबा भावे के भूदान आंदोलन की विफलता का पोस्टमार्टम लग सकता है। पर गहराई में जाने पर लगता है, "यह उपन्यास भारतीय अर्थव्यवस्था में मेरूदण्ड के रूप में समाहित कृषि–जीवन की विडम्बनाओं का एक सिलसिलेवार प्रस्तुत की गयी अंतिम रिपोर्ट है, जिसमें भारतीय कृषि और किसान जीवन की आहुतियाँ भरी हुई हैं, इसलिए इसे भूदान आंदोलन की ट्रेजडी में रिड्यूज करना उपन्यास के मूल प्रतिपाद्य के प्रति ज्यादती होगी। क्योंकि उपन्यास की कथा में निशाने पर भूदान आंदोलन के प्रणेता विनोबा भावे नहीं है। जयंतीप्रसाद सिंह सरीखे प्रसिद्ध वकील, ताल्लुकेदार घराने से जुड़े स्वाधीनता संग्राम सेनानी जमींदार जिन्होंने अपनी बंजर धरती को भूदान आंदोलन के यज्ञ में आहुति के रूप में डालकर स्वयं को दूसरे विनोबा के रूप में पेश करने लगे।"[9]

'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास की कथा में मुख्य रूप से कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह जयश्री, सुंदरी, सुशीला, निर्मल भाई, विवेक आदि पात्र शामिल हैं।

सुंदरी भूदान आंदोलन की निष्ठावान कार्यकर्ता है। 1952 में जब विनोबा भावे अपने दल–बल के साथ कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के पास पहुँचते हैं, तो भावावेश में वे दो गाँव दान में दे देते हैं। उन्होंने अपनी हवेली के बाहरी हिस्से में भूदान कार्यालय खोला। विनोबा जी के सर्वोदयी दल में सुंदरी भी शामिल थी। सुंदरी को देखते ही कुँवर जयंती प्रसाद सिंह बेकाबू हो गए थे। वे सुंदरी में जयश्री का रूप खोजते थे। लेकिन वह तो वास्तव में सुन्दरी ही थी। एक–दो छोटे प्रयासों के बाद वे एक रात सोई हुई सुंदरी को छेड़ते है। साथ ही एक दिन अपनी बाँहों में भी लेने की कोशिश करते हैं। सुन्दरी जब उस जकड़ से अपने को छुड़ाती है, तो वे ग्लानि से बचने के लिए उससे अपनी शादी की इच्छा जाहिर कर देते हैं। फिर जब देखते हैं कि ऐसे बात नहीं बनेगी तो वे कहते हैं कि "मुझे गलत मत समझो सुंदरी, रूक जाओ। मैं बहुत

पहले से कहना चाहता था, पर कह नहीं पा रहा था। मैं तुम्हारे बिना रह नहीं सकता। मैं तुमसे शादी करना चाहता हूँ"[10]

इसके बाद सुंदरी उस हवेली को छोड़कर बुंदेलखंड के एक अनुर्वर गांव में चली गई, जो ग्रामदान में मिला था। यहीं गांव बिस्रामपुर है। वहाँ सहकारी खेती के प्रयोग के साथ अन्य कई जनकल्याणकारी संस्थाएँ खुलनेवाली थी। सुंदरी ने यहीं अपना आश्रम बनाया था। यहाँ अनेक परियोजनाएँ शुरू हुई थी। मगर सभी मिट्टी में मिल गई। बाल–विहार अभी बचा था। सुंदरी ने इसे अपने खून–पसीने से जिलाए रखा था।

इस उपन्यास में लेखक ने सुंदरी को भूदान आंदोलन की एक समर्पित कार्यकर्ता के रूप में दिखाया है। अगर वह चाहती तो विवेक के साथ, सुशीला की तरह अपना घर बसाकर एक पूर्ण स्त्री का सुखी जीवन जी सकती थी। पर वह ऐसा नहीं कर सकी। वह प्रेम करना और पाना दोनों चाहती थी, पर कर्मपथ पर चलते रहने से विरत नहीं कर सकी। उनका जीवन एक भारतीय स्त्री के समर्पण की महागाथा है। वह क्षेत्र चाहे भूदान आंदोलन का हो या दाम्पत्य जीवन का। वह जहाँ भी जुड़ती है पूरी निष्ठा से जुड़ती है। उनकी निष्ठाओं पर संदेह नहीं किया जा सकता। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह ने परिहास में ठीक कहा कि "तुम औरत नहीं हो, लड़की भी नहीं हो, लकड़ी हो। भूदान यज्ञ की लकड़ी। क्या कहते हैं उसे समिधा।"[11]

यह वही समिधा है जिसमें जयंतीप्रसाद सिंह अपना हवन करना चाहते हैं। जिसे वह पूरी तौर पर नकार देती है। जब विवेक उसे एक दिन अपने साथ विवाह करने के लिए प्रस्तावित करता है तो उसे भी वह नकार देती है, उस नकार के पीछे उसके कर्तव्यबोध का तर्क तो है ही साथ ही उसके सामने एक मानसिक द्वन्द्व भी है कि विवेक के पिता ने जो उसके साथ हरकत की, उसको पाने के लिए विवाह प्रस्ताव किया इस तथ्य को अंधेरे में रखकर वह विवेक के साथ विवाह करके नैतिक अपराध में शरीक होगी। वह विवेक से सीधे नहीं कह पाती है, लेकिन सुशीला को पत्र लिखकर सारी सच्चाई सामने रखती है। इस सच्चाई को सामने रखकर दरअसल वह अपनी

नैतिकता को प्रकट करती है। क्योंकि सुंदरी एक अत्यंत संवेदनशील और बौद्धिक स्त्री है, इसलिए नैतिकता हमेशा उसके आड़े आती है। वह इतनी नैतिक है कि अपनी आँखों के सामने हिरन को मरता देखकर सिहर जाती है और इस अमानवीय कृत्य के लिए कुँवर जयंती प्रसाद सिंह की भर्त्सना करती है। सुंदरी की मृत्यु में भूदान आंदोलन की ट्रेजडी समाहित है। अगर हम यूँ कहें कि सुंदरी आज के गिरे हुए समाज में नैतिकता और कर्तव्यनिष्ठा की जलती हुई दीपशिखा है, जो स्वयं को बुझाकर औरों को रोशनी प्रदान करती है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सुंदरी की मौत की खबर पाते ही जब कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह बिस्रामपुर की इस यात्रा पर निकले, "उन्हें आभास था कि यह भावुकता की यात्रा है जिसका सुंदरी के जीवनकाल में भी कोई अर्थ न होता, अब वह पूरी तौर से निरर्थक थी। जो भी हो सुंदरी की मौत का तार पाते ही उन्हें लगा था कि उन्हें उस जगह पहुँचना चाहिए जहाँ उसने अपने संभावनापूर्ण युवा वर्षों की ग्रामोत्थान जैसे संदिग्ध पदार्थ के नाम पर बलि दे दी थी।"[12] .... सुंदरी की याद का उनके ऊपर कम से कम एक हक तो है ही कि एक बार वे जाकर देखें कि उनकी कोठी छोड़ देने के बाद उसने किस संघर्षों के बीच से अपनी राह निकाली थी।

जब कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह बिस्रामपुर जाने का फैसला करते हैं तब उनके इस अचानक फैसले से विवेक को काफी आश्चर्य होता है। और साथ ही विवेक ने उन्हें हैरत से देखा, कहा "आप बिस्रामपुर जा रहे हैं?" ... हाँ, मैं बिस्रामपुर जा रहा हूँ।" ऐसी भंगिमा से बोली गयी उक्ति, जैसे उसमें किसी संदेह की जगह न हो। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह ने कहा कि "मैं एक सप्ताह बाद चला जाऊँगा। " जवाब में कितने दिन के लिए? "जितने दिन इस जिंदगी के बचे हैं। कितने दिन होंगे? दो साल? साल भर? छह महीने? तीन महीने? कुछ हफ्ते।"[13]

हाथ में खामोशी से उठाया गया चाय का प्याला। विवेक ने एक घूँट पिया, प्याले को हाथ ही में पकड़े रहा। वे बोले "उस दिन तुम किसी को मेरा प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते थे। मैंने इसीलिए मना कर दिया था। दिल्ली से इतनी दूर उस

गांव में मेरे साथ कौन टिकेगा? ऑफिस के नाम पर वहाँ दो–तीन लोग ही हैं। वहाँ मुझे किसी निजी सहायक की जरूरत हुई तो पास के शहर से ही कोई स्थानीय आदमी चुन लूँगा। यही ठीक रहेगा। क्यों?"[14]

विवेक कहता है कि इस 'क्यों' का उत्तर नहीं है फिर भी "मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ, पर...।" कुछ अटककर उसने पूछा, "आपने अचानक यह फैसला कैसे कर डाला? " तब कुँवर जयंती प्रसाद सिंह कहते हैं कि "यह फैसला अचानक नहीं है। दरअसल, मैं वानप्रस्थ में जाना चाहता हूँ जहाँ मुझे कई साल पहले चला जाना था। ये रेड्डी–फेड्डी जैसे लोग सत्ता के गलियारों में चक्कर काटते हुए इस भ्रम को पाले हुए हैं कि वे देश सेवा कर रहे हैं। तुम समझते हो कि मैं उन्हीं जैसा बेवकूफ हो सकता हूँ। पर मेरी बेवकूफी दूसरी किस्म की है। मैं रेड्डी जैसे लोगों के भुलावे से दूर निकल आया हूँ। सत्ता का तजुर्बा हासिल कर चुकने पर मैं पहली बार आजादी का अनुभव कर रहा हूँ। मुझे समझ रहे हो न? या तुम्हारी भी अक्ल भोथरी हो गयी है। जिंदगी के बाकी दिन मुझे सचमुच ही किसी काम में बिताने हों– यानी किसी सार्थक काम में– तो मैंने जो तय किया है उसके सिवाय मेरे लिए कोई दूसरा रास्ता नहीं है।"[15] घूरते हुएः "क्यों? तुम ऐसा क्यों सोचते हैं?" विवेक ने अपने को सँभालते हुए पहली प्रतिक्रिया की, कि ये महापुरूष अब सत्ता से वंचित होकर नाटकीयता में जीना चाहते हैं, दूसरी प्रतिक्रियाः बाबूजी, आप टिककर सहजता और शांति के साथ क्यों नहीं रह सकते? तीसरी, और शब्दों में ढली प्रतिक्रियाः "मेरे सोचने का कोई अर्थ तब होगा बाबूजी, जब मुझे भरोसा हो कि आप उस पर खुलेमन से विचार करेंगे पर आपने अगर बिस्रामपुर जाने का फैसला कर ही लिया है तो उसके बाद मेरे सोचने या कहने को बचा ही क्या है?"[16]

उत्तर में "इसका मतलब?" वे तीखेपन से बोले, "भूदान आंदोलन में मेरी बहुत पहले से आस्था रही है। तुम इसे नहीं मानते? बिस्रामपुर का आश्रम उसी का जीता–जागता प्रतीक है। तुम यह भी नहीं जानते? वहाँ रहकर अगर मैं उस काम को

आगे बढ़ाऊँ जिसे सुंदरी ने अपने त्याग और तपस्या से सींचा था तो... तो वह भी तुम्हारी नजर में मेरी सनक भर है?"[17]

विवेक सचमुच ही इसे उनकी सनक भर मान रहा था पर जिस तरह उन्होंने यह बात कही, उसे लगा कि नाटकीयता के बावजूद पिता के निर्णय में कोई आस्था, कोई सच्चाई भी हो सकती है। उसका जवाब सच्चाई से ही दिया जा सकता है विवेक ने कहा, "सच तो यह है बाबू जी कि आपका यह निर्णय मेरी समझ से बाहर है। मुझे नहीं मालूम कि किस मजबूरी से आप एक बिलकुल नयी जीवन पद्धति अपनाना चाहते हैं। मुझे यह भी नहीं मालूम कि वहाँ जाकर आप संस्था के हक में ऐसा क्या हासिल करना चाहते हैं जिसके लिए आपका वहाँ बराबर मौजूद रहना जरूरी हो। शायद संस्था के लिए सारे साधनों को आप यहीं मुहइया कर सकते हों! बहरहाल, मुझे कुछ भी मालूम नहीं। जाहिर है, इस पर आप ही आखिरी फैसला दे सकते हैं। दे चुके हैं।"[18]

जो समस्या विवेक की थी, लगभग वही समस्या कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह की भी थी। उन्हें पता भी नहीं था कि बिस्रामपुर जाकर वे सुंदरी की संस्था के लिए कौन–सी लक्ष्य सिद्धी करना चाहते हैं। यह भी पता नहीं था कि वे जो करना चाहते हैं उसके लिए उनका वहाँ जाना लाज़मी भी है या नहीं। पर उन्हें यह पता जरूर था कि संस्था के लिए यह जरूरी हो या नहीं, अपने लिए उनका वहाँ जाना बहुत जरूरी है। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह शुरू से ही सामंती प्रवृत्ति के रहे हैं उन्हें शुरू से ही आराम की जिंदगी पसंद है। जब वे बिस्रामपुर जाते हैं तब वहाँ भी उन्हें कमोड की आवश्यकता पड़ती है... विवेक से कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह ने कहा, "मैंने बिस्रामपुर आश्रम में मंत्रीजी को पत्र लिखकर अपने आने का प्रोग्राम भेज दिया है। दस हजार रूपये का बैंक ड्राफ्ट भी भेजा है जिससे वे मेरे रहने के कुछ जरूरी इंतजाम पूरे कर लेंगे। पर एक छोटी–सी बात लिखने से छूट गयी है। छूट क्या गयी, छोड़ दी गयी। अगर दो चार दिन में कोई ढंग का आदमी वहाँ भेज दो तो वह इस काम को देख लेगा।"[19]

"भेज दूँगा। पर काम क्या है?"

"कमोड।"..... "कमोड?".... "हाँ, कमोड। वहाँ के बाथरूमों में देसी ढँग के शौचालय हैं। उन गड्ढों में काम नहीं चलेगा। मेरे बाथरूम में पश्चिमी ढँग के कमोड की ज़रूरत है।"

'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास के अन्य पात्रों में निर्मल भाई अधःपतन सर्वोदयी कार्यकर्ताओं का मानसिक परावर्तन है जो त्याग का रास्ता छोड़कर सुख और योग के रास्ते पर चल पड़ते हैं। निर्मल भाई सर्वोदय आंदोलन के प्रवक्ता हैं। इसलिए विदेश में उनकी माँग बहुत है। पर निर्मल भाई दूसरों को सर्वोदय की शिक्षा देते–देते अंत में अपना आत्मोदय करने लगते हैं। सुशीला से विवाह तो पहले ही कर चुकते हैं। अब बारी है धन संपदा बटोरने की। लिहाजा इसी भूख में वे सोने की तस्करी में पकड़े जाते हैं और तिहाड़ जेल में मजा चखने के लिए भेज दिए जाते हैं।

आश्रम में जयंतीप्रसाद सिंह व सुशीला के बीच निर्मल के बारे में वार्तालाप जारी है। सुशीला ने कहा, "निर्मल की याद है न?..." "निर्मल भाई?"..... वहीं, पर मैं उनको निर्मल भाई नहीं कह सकती। वे मेरे पति।"[20]

कुछ दिन पहले दुबे महाराज से अपने खेतों का कब्जा छीनने के लिए बिस्रामपुर के किसानों ने लाठी का सहारा लिया था। वहाँ के ग्रामदान के इतिहास की यह भयानक विडंबना थी। भले ही उन्हें रामलोटन की सफलता पर संतोष मिला हो, सर्वोदयी मूल्यों के इस ह्रास से उन्हें झटका लगा था। भूदान आंदोलन की याद करते हुए अब उन्हें दूसरा झटका लगा। ये वही सुशीला और निर्मल भाई हैं जिन्हें उन्होंने 'जीवनदानी' समझा था। अपनी प्रखर सामाजिक चेतना और युवा आदर्शवादिता के प्रवाह में उन्होंने बत्तीस साल पहले कुछ मूल्यों के लिए अपना सब कुछ अर्पित कर लिया था। और अचानक उनका विवाह! साधारण गृहस्थी का चक्कर!" "निर्मल भाई इस वक्त कहाँ है?".... "तिहाड़ जेल में।" सुशीला ने कहा "आपको याद होगा, आपके यहाँ दो साल बिताकर हम महाराष्ट्र चले गए थे, हम यानी मैं और निर्मल। निर्मल हमारे आंदोलन के सैद्धांतिक प्रवक्ता जैसे थे। अपने विरोधियों पर काबू पाने के लिए उनके पास सबसे कारगर हथियार उनकी आवाज थी, अब भी है।"[21] कुछ सालों बाद यह

देखा कि भूदान आंदोलन के लिए विदेशों में, खासतौर से अमरीका और योरोप के लोगों में उत्सुकता पैदा हुई है और वहाँ के कई संगठन उसके प्रवक्ताओं को सुनना चाहते हैं। तब निर्मल को आंदोलन की उपलब्धियों और सिद्धांतों पर व्याख्यान देने के लिए बाहर भेजा जाने लगा। वे अपना यह काम बखूबी निभा रहे थे, यह इसी से जाहिर है कि अब उन्हें बाहर से बराबर निमंत्रण मिल रहे थे। भूदान आंदोलन के प्रवक्ता के रूप में अपने को स्थापित करने के लिए अब उन्हें भूदान संगठन की जरूरत नहीं रह गयी थी।

कुँवर जयंती प्रसाद सिंह ने कहा, "मैं निर्मल भाई की प्रतिक्रिया का तब भी कायल था।" उसी प्रतिभा की तारीफ कर रही हूँ। आप तो कायल भर थे, मैं उस पर मुग्ध थी। वह आवाज, और उस पर लहरें लेता हुआ शब्दों का चमत्कार यही नहीं, उन दिनों मैंने निर्मल में न जाने कितने गुणों का अनुसंधान किया होगा। सुशीला आगे कहती है मैं पैंतीस साल की हो रही थी, समाज सेवा से मुझे विरक्ति नहीं थी, पर मुझे लगता था कि समाज के प्रति अपने दायित्त्व को बहुत कुछ निभा चुकी हूँ और अब मुझे अपने प्रति दायित्त्व के बारे में सोचना चाहिए। तभी लगभग सत्रह साल हुए, हम दोनों ने अहमदाबाद जाकर शादी कर ली। पर व्यवस्थित ढँग से हम लोग साथ–साथ बहुत कम रहे। वे प्रायः बाहर रहते थे। मैं कुछ समय पवनार में बिताती, पर प्रायः अहमदाबाद रहती।

सुशीला आगे कहती है कि "शायद वे शादी के पहले ही भीतर से बदल चुके थे। तब उनके लिए मैं एक सम्मोहन के दौर से गुज़र रही थी और इसे पहचान नहीं पायी थी। शादी के बाद उनके साथ रहते हुए मुझे महसूस हुआ, उन्हें विदेश–भ्रमण का चस्का पड़ चुका है।.... उनकी जेबें डॉलर नोटों से भरी रहती हैं। मैं उन्हें जब सुझाव देती कि उस आमदनी को सरकार के आगे घोषित करके सर्वोदय समाज को अर्पित कर देना चाहिए तो वे मुझे हमेशा आश्वासन देते कि वे ऐसा ही कर रहे हैं। पर मैं बेचैन थी, जानती थी कि ऐसा होगा नहीं।"[22]... धीरे–धीरे उन्होंने एक नया अवतार ग्रहण किया। वे अपने पुराने परिवेश के साथियों से कटने लगे। मेरे लिए यह समझना

कठिन न था कि भूदान के साथ उनका भावात्मक लगाव मिट रहा है, सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में वह आंदोलन उनके लिए अपना अर्थ खो चुका है। ...."ज्यादा कहने से क्या फायदा। इस समय वह दिल्ली के तिहाड़ जेल में हैं।"..... कुँवर जयंती प्रसाद सिंह ने शिष्टता के साथ पूछा, "जुर्म?" ... "सोना! सोने की तस्करी।" ..."विवेक जानता है।"[23]

इससे यह स्पष्ट होता है कि निर्मल भाई का चरित्र यह साबित करने के लिए काफी है कि कल के सर्वोदयी जो विनोबा की तरह लंगोटी पहनकर गुजारा करते थे, समय की मार ने उन्हें हाजी मस्तान बना दिया। एक और इन लोगों ने संस्थाओं को खोखला किया, विचारधाराओं की धज्जियाँ उड़ाई तो दूसरी ओर नैतिकता, समाजसेवा की आड़ में जनता के साथ धोखा किया। विनोबा के जीवन काल में ही भूदान आंदोलन स्वाहा हो चुका था।

सुशीला जयंतीप्रसाद सिंह की चोंचलेबाजी से वाकिफ थी। इसका पता जयंतीप्रसाद सिंह को भी था। सुशीला के पास सुंदरी का एक पत्र था। जयंतीप्रसाद सिंह से मुलाकात कर जब वह अहमदाबाद लौटती है। वहाँ से वादे के मुताबिक उनके लिए विनोबा जी के 'गीताप्रवचन' की एक प्रति भेजती है। उसमें जयंतीप्रसाद सिंह को एक लिफाफा भी मिलता है। उसमें सुंदरी ने सुशीला को बताया था कि वह क्यों पिछले चौदह वर्षों से अपने साथ शादी के विवेक के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर पा रही थी। उसने सुशीला को लिखा था, पर "कुँवर साहब ने कुचेष्टा भर नहीं की, उन्होंने बाकायदा विवाह का प्रस्ताव रखा। भले ही वह प्रस्ताव आवेश में किया हो या, जैसा कि तू कहती है, अपने अपराध को ढकने के लिए। पर प्रस्ताव उन्होंने किया और उसके बाद सब कुछ बदल जाता हैं"[24] सुंदरी आगे कहती है कि "मैं यही मानती हूँ कि यह भाग्य का इशारा था। उसके तीन दिन पहले ही विवेक ने अपने मन की बात खोली थी। तेरे लिए यह सब कुछ खेल जेसा है। तू तभी से कह रही है कि मैं 'हाँ' कह दूँ। मैं भी यही चाहती थी। मेरा मन, मेरा रोम–रोम "हाँ" कहने के लिए उतावला था पर मेरी अंतरात्मा मुझे रोक रही थी। समाज के प्रति मेरे आदर्श, मेरे संकल्प मुझे चुनौती दे रहे थे।"[25] ... वे मुझे अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं। इसी से तय हो गया है

कि मैं उनके पुत्र की पत्नी नहीं बन सकती। उनके महल में पुत्रवधु की तरह हर सवेरे उनसे आशीर्वाद पाने का अभिनय नहीं कर सकती।

उस पत्र को पढ़ने के बाद कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के अनुभव की प्रक्रिया सुन्न होती जा रही थी। अब उन्हें समझ आया कि विवेक क्यों विवाह की बात को अनमने ढँग से टाल जाता था।

विवेक कुँवर जयंती प्रसाद सिंह का पुत्र है, वह गहरे सोच–विचार वाला एक गंभीर युवक है। पहले अपने ही पड़ोस के एक कालेज में, फिर दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक की नौकरी करने लगा। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते वह ग्रामीण समस्या, खासकर उससे जुड़ी भूमि–समस्या से बहुत गहराई से जुड़ा था। सुंदरी भी आश्रम चलाते हुए भूमि–सुधार संबंधी जटिल समस्या को लेकर शोधपरक अध्ययन कर रही थी। इसी कारण दोनों में मेल–जोल बढ़ा था। सुंदरी के बरक्स विवेक बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधि है। वह अपने पिता से मन ही मन घृणा करता है पर उनका विरोध नहीं कर पाता। जबकि एक बार विवेक के बारे में कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह ने सुंदरी से कहा था, "उससे होशियार रहना। मेरा बेटा वामपंथी है। उसकी जगह वह वाममार्गी होता तो मुझे उतनी उलझन न होती।"[26]

वामपंथियों के बारे में यह धारणा हमेशा उन नेताओं की ज्यादातर रही है जो लूटपाट की जिंदगी जीने के अभ्यस्त हैं। लेकिन विवेक हमारे बौद्धिक समाज का सच्चा प्रतिनिधि है जिसे बौद्धिक विकास के साथ हमेशा समाज, देश की चिंताएँ सताए रखती है। वह परिवर्तनवादी है, पर प्रतिक्रियावादी नहीं इसीलिए वह अपने पिता की सुविधा भोगी जिंदगी को छोड़कर संघर्षशील जीवन का रास्ता चुनता है। वह अपने पिता से राजनीतिज्ञों की निर्मम आलोचना करते हुए कहता है– "बाबू जी, इन राजनीतिक जंतुओं में सचमुच ही अगर कोई ऐसा दिखे जिसकी हैसियत कुत्ते से बेहतर हो तो मुझे बताइएगा। देखना चाहूँगा कि वह कैसा दिखता है।"[27] यही नहीं वह पिता के राज्यपाल

पद से रिटायर होने के बाद बिस्रामपुर जाने के उनके फैसले का भी विरोध करता है। वह मानता है कि भूदान आंदोलन को जिलाए रखना आज मात्र एक ढकोसला है।

विवेक, सुंदरी से प्रेम करता है, पर वह अपने पिता की तरह छल भरा प्रस्ताव नहीं रखता। बल्कि सुंदरी के सामने विवाह प्रस्ताव रखते हुए वह बेलाग कहता है, "देखो सुंदरी, हम दोनों के सामने बहुत काम है, हम बहुत व्यस्त व्यक्ति हैं, एक दूसरे के बारे में निरंतर सोचकर हमें ज्यादा वक्त नहीं गँवाना चाहिए। पर कम से कम मेरी यही हालत हो गयी है, शोध का काम एक किनारे पड़ गया हैं, रात–रात भर मैं किताब खोलकर बैठा रहता हूँ, आँखें छपे हुए पन्ने पर होती है और सोचता मैं तुम्हारे बारे में हूँ। इससे अच्छा है कि हम लोग शादी कर लें और उसके बाद निश्चिंत होकर अपने कार्य क्षेत्र में जुट जाएँ।"[28]

जब सुंदरी उसके प्रस्ताव का कोई जवाब नहीं देती तब भी वह उसे विवश नहीं करता। उसके लिए विवाह दो जने के बीच की जिंदगी को शेयर करने का एक ढंग है। बस कुछ नहीं। उसके सामने जब सुशीला, सुंदरी से विवशता की बात कहती है और उससे अपनी सहानुभूति प्रकट करती है, उस समय विवेक का वक्तव्य उसकी जिंदगी के अर्थ और उसके नजरिए को उद्घाटित करता है– "तुम ट्रैजेडी का अर्थ नहीं समझती, तभी ऐसा कह रही हो। ट्रैजेडी एक भयावह चीज है। किसी से प्रेम हो और उससे शादी न हो पाये– यह ट्रैजेडी नहीं है। आज की सामाजिक व्यवस्था में जिन्दगी के हजार क्लेशों में यह एक क्लेश भर है, ज्यादा से ज्यादा कुछ लंबे दौर का न्यूसेंस है।"... ट्रैजेडी को लेकर अब मुझसे कभी ऐसी हलकी बात मत करना।"[29]

प्रेम और विवाह के बारे में विवेक के इस कथन से स्पष्ट होता है कि युवा पीढ़ी का प्रेम और विवाह के बारे में आज वही मध्यकालीन नजरिया नहीं है जो प्रेम की विफलता को ही जीवन की विफलता मानने लगे हैं। कोई जरूरी नहीं कि जो प्रेम

दुनिया में सफल हो जाए, वह जीवन में सफल हो। आज मनुष्य की ट्रैजेडी इतनी सीमित नहीं रह गयी है।

भूदान आंदोलनः स्वार्थों की पूर्ति का साधन

'बिश्रामपुर का संत' उपन्यास में लेखक ने राजनीतिक स्वार्थ कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के माध्यम से अच्छी तरह से दिखलाया है। तथा वैयक्तिक स्वार्थ कुँवर जयंती प्रसाद सिंह और निर्मल के माध्यम से दिखाया है। इस उपन्यास में भूदान आंदोलन की आंतरिक वास्तविकता तो दिखती ही है, साथ ही इसकी कथा स्वातंत्र्योत्तर समाज में एक अवशिष्ट सामंत की शासकीय महत्वकांक्षा और चारित्रिक विशेषता का उद्‌घाटन मुख्य रूप से करती है, ध्यान देने पर पता लगता है कि जैसे स्वाधीनता संग्राम के दिनों में अनेक सामंतों ने कांग्रेस में शामिल होकर सत्याग्रह किया, जेल गये और देशभक्त कहलाकर स्वाधीन सरकार के साथ सुख भोगने के हकदार बन गए, उसी तरह स्वतंत्रता मिलने के बाद अनेक सामंत भूदान आंदोलन में शरीक हो गए, समाज और राजनीति में प्रतिष्ठा अर्जित की तथा अपनी शासकीय एवं राजनीतिक महत्वकांक्षा की पूर्ति कर सकने की योग्यता अर्जित करने लगे। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह भूदान में कुछ जमीन दान करने के कुछ दिनों के बाद ही राष्ट्र संघ के लिए भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल कर लिए गए और बाद में राज्यपाल भी नियुक्त किए गए।

राजनेताओं की इस देह लम्पटता का जितना रसलोलुप वर्णन कथाकार ने जयंतीप्रसाद सिंह के बहाने प्रस्तुत किया है, वह अतिश्योक्ति नहीं है, बल्कि सच्चाई है। यह सच्चाई आज नयी पीढ़ी के राजनेताओं में और ठांठे मार रही है। अगर बलात्कारियों का सर्वेक्षण किया जाए तो गुण्डों–शोहदों–मवालियों के समानान्तर उनकी जो चाह है, वही उनकी राह है। जयंतीप्रसाद सिंह तो बेचारे हैं जो सुंदरी की प्रतीक्षा करते हैं, जिस महामहिम से मिलने के लिए मुख्यमंत्री घंटे भर प्रतीक्षा कर सकता है, उसके लिए एक स्त्री 'ना' करने का साहस कैसे कर सकती है। इस लिहाज से श्रीलाल शुक्ल ने जयंतीप्रसाद सिंह को पुरानी पीढ़ी का एक भूतपूर्व सर्वोदयी होने के

नाते जरा शालीन दिखाया है, वर्ना जयंतीप्रसाद सिंह सरीखे लोग सत्ता सुख में जितने सिद्धहस्त होते है, उसी तरह स्त्री संसार में भी एक सफल खिलाड़ी साबित होते हैं। लेखक ने जयंतीप्रसाद सिंह को लोकलाजी बनाया। वे समाज से डरते हैं। वर्ना वे भेद खुलने पर बेतवा नदी के उफानते प्रवाह में आत्महत्या करने का साहस नहीं करते। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह की आत्महत्या, आत्मवंचना का प्रतिकार नहीं, एक कायर आदमी का जीवन से पलायन है।

कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के जीवन का दूसरा छोर महामहिम के पद से जुड़ा है। विलायत से बैरिस्टरी पास करने के बाद वे पहले हाईकोर्ट में वकालत करते थे। बाद में वकालत छोड़कर वे विलायत संभालने लगे थे, क्योंकि उनके बड़े भाई राजनीतिक प्राणी थे, भूदान–यज्ञ में ग्रामदान से मिलने वाली ख्याति, अपनी काबिलियत और बड़े भाई के सरकार–विरोधी रूप इन तीनों के कारण जयंतीप्रसाद सिंह को अंततः राज्यपाल के पद की प्राप्ति होती है। अपनी दूसरी पारी समाप्त होने के बाद वे पुनः राज्यपाल या उसकी बराबरी के किसी अन्य पद पर अपनी नियुक्ति चाहते हैं। जयंतीप्रसाद सिंह का बेटा विवेक दिल्ली में रहता है इसलिए वे दिल्ली जाते हैं तथा बेटे के पास ठहरते हैं। पर्दे के पीछे पदप्राप्ति के लिए सारी जोड़–तोड़ करते हैं। पर उन्हें अंततः असफलता ही मिलती है। इस लंबी अवधि में सुंदरी उन्हें दौरे की बीमारी की तरह याद आती रही थी। "कभी एक अपरिभाषिक उत्कंठा के रूप में, कभी एक तीव्र श्रृंगारिक फंतासी की तरह उनको झक–झोरने के लिए आती रही थी।"[30]

एम्स में भर्ती होने, राजनीतिक मित्र रेड्डी से मदद लेने और प्रधानमंत्री से मिलने के बाद भी जब पद प्राप्ति में असफल होते हैं, तो अचानक सुंदरी के बिस्रामपुर जाने का फैसला करते हैं। सुंदरी पहले ही मर चुकी थी। भूमि समस्या से संबंधित उनके शोधपरक कागजात विवेक के पास सुरक्षित थे। वह उन्हें संपादित कर पुस्तक के रूप में सामने लाना चाह रहा था। जयंतीप्रसाद सिंह ने भी सुंदरी के इस काम के प्रति काफी दिलचस्पी दिखाई थी।

'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास में लेखक ने वैयक्तिक स्वार्थ निर्मल भाई के माध्यम से दिखाया है. निर्मल भाई सर्वोदय आंदोलन के प्रवक्ता हैं इसलिए विदेश में उनकी माँग बहुत है। निर्मल भाई की परिणति अंततः सोने के तस्कर में होती है। भूदान–आंदोलन के बौद्धिक प्रवक्ता के चरित्र की यह परिणति भी भूदान आंदोलन के प्रति लेखक के मंतव्य को स्पष्ट करती है। सुशीला से विवाह तो पहले ही कर चुकते हैं। अब बारी है धन संपदा बटोरने की। लिहाजा इसी भूख में वे सोने की तस्करी करते पकड़े जाते हैं।

भूदान–आंदोलन की परिणति

भूदान एवं सर्वोदयी आंदोलन के प्रति लेखक के आलोचनात्मक रवैए का पता उपन्यास के अंत में आए निर्मल भाई और जयंती प्रसाद सिंह के बेटे विवेक के संवाद में चलता है। विवेक की साफ समझ थी कि भूदान के जरिए भूमिहीन किसानों के बीच जमीन देकर ही निश्चित नहीं हुआ जा सकता। सवाल केवल ऐसे किसानों के आत्मसम्मान का नहीं है. बल्कि उन्हें आत्मनिर्भर बनाने का है। भूमिहीनों को जमीन देकर उन्हें उनकी किस्मत पर छोड़ देने से अच्छा तो उन्हें मजदूरी करने देना है। निर्मल भाई की परिणति अंततः सोने के तस्कर में होती है।

आज के इस दौर में विचारक और विचारधारा की त्रासदी पर भी लेखक ने विवेक के माध्यम से सटीक विचार व्यक्त किए हैं। जब निर्मल गाँधी और मार्क्स के विचारों की समानता के बेधड़क प्रतिपादन में मशगूल थे. तो विवेक ने कहा था. "निर्मल भाई. आप ही की बात को आगे बढ़ाते हुए मैं मार्क्स और गाँधी की एक और बड़ी समानता बताना चाहता हूँ। मेरा मतलब है.... दोनों ही अब इतने बड़े महापुरूष बन गए हैं कि उन्हें उद्धृत करने के लिए उनका साहित्य पढ़ना जरूरी नहीं रहा!... मैं तो सिर्फ उस ट्रैजेडी की तरफ इशारा कर रहा था जो हर बड़े विचारक के साथ होती है। उसके विचारों को अपने संदर्भ से उखाड़कर लोग उन्हें अपनी सुविधा के अनुसार ढाल लेते हैं।"[31] विवेक के इस कथन में लेखक की मारक व्यंग्य क्षमता के दर्शन होते हैं।

विवेक की कठिन बौद्धिकता उसे भावाविष्ट होने से बचाती रहती है। वह पिता के अंतिम पत्र की इस हिदायत की उपेक्षा करता है कि उनकी आत्महत्या को दुर्घटना समझे जाने का भ्रम बने रहने देना चाहिए। क्योंकि इस घटना के साथ दुबे महाराज का भी नाम एक नाटकीय मोड़ की तरह जुड़ गया था, इसलिए वह जिला मजिस्ट्रेट को पत्र दिखा देता है।

विवेक के साथ सुंदरी और सुशीला का चरित्र भी अत्यंत स्फुट है। निर्मल की प्रारंभिक वैचारिक निष्ठा से आकृष्ट होकर सुशीला अपने जीवनदान का व्रत तोड़कर निर्मल से शादी कर लेती है, लेकिन निर्मल की तस्कर के रूप में जो परिणति होती है, उसके चलते वह उससे अलग हो जाती है। सुंदरी और सुशीला के रूप में जो नारीमूर्ति इस उपन्यास में उभरकर सामने आई है, उससे आधुनिक भारतीय नारी का एक स्वस्थ स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। उनमें बौद्धिकता और हार्दिकता का विलक्षण समन्वय मिलता है।

संदर्भ

---

1 श्रीलाल शुक्ल, 'बिस्रामपुर का संत', पृ.24

2 वही, पृ.24

3 वही, पृ.24

4 वही, पृ.24

5 वही, पृ.25

6 वही, पृ.25

7 वही, पृ.25

8 वही, पृ.18

9 उत्तर प्रदेश– जनवरी 1999, पृ.17

10 श्रीलाल शुक्ल, 'बिस्रामपुर का संत', पृ.120

11 उत्तर प्रदेश– जनवरी 1999, पृ.20

12 श्रीलाल शुक्ल, 'बिस्रामपुर का संत', पृ.20

13 वही, पृ.79

14 वही, पृ.79

15 वही, पृ.79

16 वही, पृ.79–80

17 वही, पृ.80

18 वही, पृ.80

19 वही, पृ.81

20 वही, पृ.158

21 वही, पृ.159

22 वही, पृ.160

23 वही, पृ.160

24 वही, पृ.167

25 वही, पृ.167

26 वही, पृ.170

27 वही, पृ.159

28 वही, पृ.185

29 वही, पृ.204–205

30 कसौटी, जुलाई–सितंबर, 1999, पृ.114

31 श्रीलाल शुक्ल, 'बिस्रामपुर का संत', पृ.172

तृतीय अध्याय

भूदान आंदोलन की प्रासंगिकता का सवाल और 'बिसामपुर का संत'

आरंभ से ही भूमि समस्या हमारे देश की प्रमुख समस्या रही है, इसके निदान के लिए समय–समय पर अनेक प्रयास किए गए परंतु निजी स्वार्थों के कारण उन प्रयासों पर पानी फिर गया। विनोबा जी का भूदान आंदोलन भूमि समस्या का एक हल था। उनके नेतृत्व में यह आंदोलन एक समय पर सारे देश में फैल गया। फलस्वरूप देश के अनेक स्थानों पर भूमिहीनों को पहली बार भूमि प्राप्त हुई थी और वे भूमिवान बने थे। इसमें उनकी दशा में वांछित सुधार भी हुआ था। विनोबा जी के इस आंदोलन से देश में एक हवा बनी थी और देश के सभी राजनैतिक दलों ने आंदोलन के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की थी, सरकार भी आंदोलन के पक्ष में थी पर पूरी सफलता नहीं मिली।

यह निश्चित है कि अगर समय रहते हुए भूमि समस्या का निवारण नहीं किया गया तो, गाँवों में जहाँ हमारे देश की सत्तर प्रतिशत जनता निवास करती है, वहाँ सदा हिंसा और अराजकता का माहौल बना रहेगा। यदि गाँवों की यही स्थिति रही तो सम्पूर्ण देश का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। गाँधी जी ने इस स्थिति को समझा था पर तब हमारा देश विदेशी दासता में जकड़ा हुआ था और उसका मुख्य लक्ष्य विदेशी दासता से मुक्त होना था। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गाँधी जी जीवन–पर्यन्त संघर्ष करते रहे। आजादी तो प्राप्त हो गई पर वे स्वयं नहीं रहे, जो काम वे करना चाहते थे, वह अधूरा रह गया।

आजादी के बाद शोषित, पीड़ित और दलित जागने लगे और उनमें एक प्रकार की सुगबुगाहट आई। कुछ जागरूक लोग शोषित जनता को संगठित करने में लग गए। सरकार ने भी अपने दायित्व निर्वाह के लिए अनेक आर्थिक सुधारों की घोषणा कर दी, गरीबों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए जमींदारी व्यवस्था समाप्त कर दी गयी। भूमि की अधिकतम जोत की सीमा निर्धारित कर दी गई। जमीन जोतने वालों के अधिकारों के लिए कानूनी व्यवस्था कर दी गई।

निर्मल चन्द्र ने अपनी पुस्तक 'भूमि समस्या और भूदान' की भूमिका में लिखा है– "नए कानूनों के फलस्वरूप भूमिवानों में अपनी असुरक्षा का भय व्याप्त हो गया वे

बटाईदारों को हजाने लगे, भूमिहीनों के वर्षों पुराने गाँव उजाड़े गए जिससे उनकी परेशानी बहुत बढ़ गई। पहुँच, पैसा और पुलिस से गठजोड़ होने के कारण बेजमीनों के लिए न्याय पाना कठिन हो गया। कानून और व्यवस्था के नाम पर भूमिवानों को सरकार का संरक्षण प्राप्त था इसके विपरीत समाजवादी और साम्यवादी दल भूमिहीनों और बटाईदारों को संगठित करने लगे। भूमिवानों और भूमिहीनों की यह लड़ाई करीब–करीब पूरे देश में फैल गयी थी। इस ज्वालामुखी के कारण भूदान गंगा के रूप में तीसरी शक्ति प्रकट हुई।[1]

भूदान भूमि सुधार करने, कृषि में संस्थागत परिवर्तन लाने, जैसे भूमि का पुनर्वितरण सिर्फ सरकारी कानूनों के जरिए नहीं बल्कि एक आंदोलन के जरिए करने की एक कोशिश थी। प्रसिद्ध गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ता आचार्य विनोबा भावे ने छठें दशक के आरंभ में इस आंदोलन के लिए गाँधीवादी तकनीकों एवं रचनात्मक कार्यों तथा ट्रस्टीशिप जैसे विचारों को प्रयोग में लाया। विनोबा भावे ने सर्वोदय समाज की स्थापना की, जो रचनात्मक कार्यकर्ताओं का अखिल भारतीय संघ था। इसका उद्देश्य था, देश में अहिंसात्मक तरीके से सामाजिक परिवर्तन लाना। वे और उनके अनुयायी पदयात्राएँ किया करते थे तथा गाँव–गाँव पैदल जाकर बड़े भूस्वामियों से अपनी जमीन का कम से कम छठा हिस्सा 'भूदान' के रूप में भूमिहीनों और गरीब किसानों के बीच बाँटने के लिए अनुरोध किया करते थे। विनोबा जी का उद्देश्य कम से कम 5 करोड़ एकड़ जमीन हासिल करना था जो भारत में 30 करोड़ एकड़ जोतने लायक जमीन का छठा हिस्सा बनता था। उनका विचार था कि औसतन पाँच सदस्यों का परिवार अपनी जमीन का छठा भाग छोड़ दे और भूमिहीन गरीब को अपने परिवार का सदस्य बना ले।

भारत की आबादी का अधिकतर भाग गाँवों में निवास करता है। गाँव हमारी सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का आधार है और यह बात हमारे देश के लिए ही नहीं बल्कि संसार के समाज के अस्तित्व का मूल आधार जमीन ही है, क्योंकि मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जमीन से ही पूरी होती है,

कम–से–कम भोजन और वस्त्र की दो मौलिक आवश्यकताएँ तो सीधे जमीन से ही संबंध रखती हैं। खाने के लिए अन्न और कपड़े के लिए कपास सीधे जमीन से ही मिलता है। अतः जमीन मनुष्य–जीवन के लिए उसी प्रकार जरूरी है, जैसे मनुष्य के लिए हवा और पानी। सौभाग्य से हवा और पानी दोनों ऐसी चीजें हैं जिन पर कोई भी मनुष्य सहज ही अधिकार नहीं कर सकता और सहज ही दूसरों को उनसे वंचित भी नहीं कर सकता। पर जमीन पर लाठी या कानून के जरिए अधिकार कर लेना आसान है और इसलिए हमेशा इस बात के लिए अति सतर्क रहने की जरूरत है कि सत्ता, बुद्धि, धन या शरीर बल वाले लोग दूसरों को इस मौलिक आवश्यकता की वस्तु से वंचित तो नहीं कर देते हैं, क्योंकि ऐसा हो जाने पर समाज में आवश्यकता और विस्फोट अवश्यम्भावी हो जाते हैं।

आज हिन्दुस्तान में ऐसी स्थिति बन गई है, इसमें कोई संदेह नहीं। विभिन्न कारणों से, जिनकी तफसील में जाने की जरूरत नहीं, और तरह–तरह के हथकंडे और जोर–जबरदस्ती से कुछ बलवान लोगों ने जमीन अपने अधिकार में केन्द्रित कर ली है। परिणामस्वरूप हमारी आबादी में से अधिकांश लोग भूमिहीन हो गए हैं और खेतों पर मजदूरी करके, दूसरे की खेती करके या केवल मजदूरी से अपना पेट पालते हैं। यह स्थिति इस हद तक पहुँच गई है कि अधिकांश लोगों को आज पूरी मेहनत करने पर भी भरपेट खाने को नहीं मिलता, क्योंकि जमीन की उपज का बड़ा हिस्सा ऐसे लोग हथिया लेते हैं जो जमीनों के 'मालिक' बन गए हैं और निठल्ले रहकर दूसरों की पैदा की हुई संपत्ति का उपभोग करते हैं। यह स्पष्ट है कि अगर इस विषम परिस्थिति का इलाज समय रहते नहीं हुआ तो बहुसंख्यक लोग लूटमार और हिंसा पर उतारू हो जाएँगे और देश में अव्यवस्था हो जायेगी।

समाज का भला चाहने वाले विचारशील लोगों में इस बात पर मतभेद नहीं हो सकता कि आज धन–दौलत, जमीन, संपत्ति आदि की जो विषमता पैदा हो गई है, वह मिटनी ही चाहिए और जीवन–यापन के यह साधन, जो समाज के कुछ लोगों ने हथिया रखे हैं, उनके हाथों से निकलकर सबको सुलभ होने चाहिए। पर दुनिया का

अब तक का इतिहास बताता है कि जब–जब ऐसी विषम परिस्थिति का इलाज खूनखराबी से करने की कोशिश की गई है तब–तब ही इस प्रकार की खूनखराबी और अव्यवस्था का फायदा उठाकर फिर दूसरे नाम और रूप से चंद लोग सत्ता प्राप्त कर लेते हैं और बेचारी भोली जनता गुलाम की गुलाम ही बनी रह जाती है।

इस जड़ की बात को पहचानकर ही गाँधी जी ने इस बात पर जोर दिया था कि हमें समाज की हर समस्या अहिंसात्मक तरीके से हल करनी चाहिए। उनका मानना था कि चाहे हमें यह कला आज पूरी न मालूम हो; पर इसमें कोई शक नहीं कि हम प्रत्येक छोटे–बड़ी समस्या का हल अहिंसात्मक तरीके से निकाल सकते हैं और आम लोगों के हित की दृष्टि से हमें ऐसा ही करना चाहिए। राजनैतिक आजादी के बाद जो सबसे बड़ी इच्छा गाँधीजी के दिल में थी और जिसकी ओर वह अपनी सारी शक्ति लगा रहे थे, वह यही थी कि किस तरह अहिंसक उपायों द्वारा वह समाज में ऐसा परिवर्तन ले आयें, जिसमें आज चारों ओर व्याप्त शोषण और विषमता दूर होकर समाज में सुख–शांति स्थापित हो सके। गाँधी चले गये; "पर यह काम अभी बाकी है और जो लोग गाँधी जी की तरह इस बात में विश्वास रखते हैं कि आम लोगों के हित की दृष्टि से यह जरूरी है कि हम अपनी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का हल अहिंसात्मक उपायों से निकालें, वे जमीन की विषमता जैसे बड़े और व्यापक प्रश्न का हल परिस्थिति के या कानून के ऊपर नहीं छोड़ सकते। परिस्थिति पर अगर हमने इस चीज को छोड़ दिया तब तो यह अवश्यम्भावी है कि मुल्क में मारकाट और अव्यवस्था फैले।"[2] क्योंकि वह रास्ता सीधा और सरल मालूम होता है और भूख तथा गरीबी से पीड़ित लोगों की उस ओर आसानी से उभाड़ा जा सकता है। और कानून का रास्ता तो हम देख ही रहे हैं कि इतना धीमा और नाकाफी है कि उसके जरिये आज की बिगड़ी हुई परिस्थिति समय के रहते ठीक नहीं हो सकती। जमींदारी–प्रथा तो हमारी भूमि–समस्या का एक पहलू है; पर इसका हल भी आज कानून से करते–करते कितना समय बीत रहा है और कितनी अड़चनें उसमें आ रही हैं। कानून तो किसी भी क्रांति या परिवर्तन की आखिरी सीढ़ी ही हो सकती है

पहली नहीं। जनतंत्र में कानून ऊपर से लाया नहीं जा सकता, वह तो एक तरह से जनता की इच्छाओं का लेखमात्र होता है। अतः कानून बनाने के लिए पहले वातावरण बनाना जरूरी है।

आचार्य विनोबा भावे ने जो भूमिदान–यज्ञ का आरंभ किया है, वह आज की सबसे बड़ी और विषम समस्या के अहिंसक हल का महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। उन्होंने कहा है कि "जमीन पानी और हवा की तरह सब को बिना रूकावट के प्राप्त होनी चाहिए।"[3] यह आवश्यक है; पर आज भूमि के स्वामित्त्व की भावना समाज में रूढ़ हो गई है। कुछ लोग भूमि के 'मालिक' बन गए हैं और अधिकतर लोग भूमि से वंचित होकर सिर्फ हल चलाने वाले मजदूर। इसमें बहुत बड़ा सामाजिक नुकसान यह हो रहा है कि जमीन पर काम करने वाले की मेहनत का बड़ा हिस्सा इन 'मालिकों' के ऐशो–आराम के लिए चले जाने और वास्तविक जमीन जोतने वाले को उसका पूरा लाभ न मिलने से जमीन का सार–संभाल या तरक्की में उसे कोई रस नहीं है और इस तरह से हमारे देश की जमीन खराब होती जा रही है और फलस्वरूप पैदावार घट रही है।

विनोबा जी के शब्दों में "भूमिदान–यज्ञ भूमि–स्वामित्त्व की इस भावना के निरासन का अहिंसक उपाय है।"[4] अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए विनोबा जी कहते हैं इसी प्रकार "ज्यादा जमीन रखना पाप है, यह भावना समाज में मुझे रूढ़ करनी है। कानून या जबरदस्ती से वातावरण विषैला बनता है। कानून में मुआवजा देने का प्रश्न भी खड़ा होता है, पर भूमिदान–यज्ञ से परस्पर प्रेम का वातावरण निर्माण होता है और मुआवजे की समस्या नहीं खड़ी होती।"[5]

भूदान आंदोलन की सफलता पर अनेक सवाल उठे, कई लोगों ने विनोबा जी के इस आंदोलन के बारे में कहा है कि इस तरह एक–एक दो–दो एकड़ भूमिदान माँगने से तो भूमि की विषमता की समस्या सैकड़ों वर्षों तक हल नहीं होगी। भूमि–दान–यज्ञ के महान लक्ष्य को देखते हुए उसकी अल्प शुरूआत से शंका होना स्वाभाविक है। पर हर काम की शुरूआत इसी तरह होती है, यह हम क्यों भूल जाते

हैं। महान–से–महान व्यक्ति भी तो एक बूँद से ही बनता है। बड़े–से–बड़ा वट वृक्ष भी एक छोटे–से बीज से ही पैदा होता है। फिर विनोबा जी के इस आंदोलन की छोटी शुरूआत से इतनी शंका क्यों? इसलिए छोटी–सी शुरूआत से किसी महान उद्देश्य की सफलता में शंका प्रकट करना न अनुभव से सही है, न बुद्धि से, और ऐसे निठल्ले लोगों की शंका का तो कोई इलाज ही नहीं है, जो खुद कुछ करना नहीं चाहते और दूसरों के काम की सफलता में शंका प्रकट करके और तरह–तरह के तर्क उसके विरूद्ध देकर अपनी आलस्य–वृत्ति को छिपाना चाहते हैं।

कुछ लोग जो सिद्धान्ततः हिंसक वृत्ति के पक्षपाती हैं और जो अव्यवस्था तथा हिंसा के मार्ग में ही विश्वास रखते हैं, उनके इस आक्षेप का कि विनोबा जी अपने इस यज्ञ के प्रचार की उस क्रांति के मार्ग में रूकावट डाल रहे हैं, तो कोई उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं है। अगर ऐसे लोग हिंसक क्रांति के जरिए सचमुच विषमता का अंत चाहते हैं, उनका और कोई स्वार्थ नहीं है, तब उन्हें उस समस्या को हल करने के इस अहिंसात्मक प्रयोग के मार्ग में से हट जाना चाहिए और अगर इसमें सक्रिय मदद नहीं दे सकते तो कम–से–कम इसकी मंगल–कामना तो करनी ही चाहिए। "कुछ लोग यह सवाल उठाते हैं कि विनोबा जी ने भूमि की समस्या को हल करने के लिए यह अहिंसक यज्ञ शुरू किया है, यह तो ठीक है, परंतु वह पैदल ही चलने का आग्रह क्यों रखते हैं? क्या वह रेल–मोटर आदि में सफर करके अपना काम जल्दी पूरा नहीं कर सकते?"[6] यह शंका स्वाभाविक है और ऊपर से देखने में ठीक भी लगती है, पर विनोबाजी की इस पैदल घूमने की बात के पीछे भी एक महान क्रांतिकारी विचार है, जो उन्होंने उत्तर भारत की अपनी यात्रा शुरू करने का इरादा जाहिर करते समय ही सेवाग्राम तथा पवनार की सभाओं में स्पष्ट किया था। पहली बात तो हमें यह नहीं भूलनी चाहिए कि भूमि रेल या मोटर के मार्गों पर ही नहीं है, बल्कि उसके लिए गाँव–गाँव लोगों के पास पहुँचना आवश्यक है। विनोबा जी कहते हैं "कि रेल, मोटर आदि साधन, पैसों की अपेक्षा रखते हैं, पैसे देकर ही वे प्राप्त किये जा सकते हैं और विनोबा जी आज समाज में जो आर्थिक शोषण व्याप्त है उसे खत्म करके असली

साम्यवाद की स्थापना के लिए पैसों के जाल से छुटकारा या 'कांचनमुक्ति' को आवश्यक मानते हैं। अतः उन्होंने प्रचार के ऐसे ही साधन को अपनाना जरूरी समझा, जो बिना पैसे के प्राप्त है, सब के लिए सुलभ है और जिसके जरिये ही सचमुच सब लोगों तक पहुँचा भी जा सकता है।"[7]

विनोबा जी का प्रमुख उद्देश्य था भूमिहीनों के लिए भूमि प्राप्त करना। भूमि के लिए इतिहास में रक्त–पात हुए हैं। विनोबा रक्तहीन–क्रांति से भूमि चाहते थे। वे पाँच करोड़ एकड़ भूमि की माँग लेकर द्वार–द्वार अलख जगाते फिरते थे। उनका तर्क था कि जिनके पास भूमि है, वे उन्हें अपने दूसरे बेटों के साथ अपना बेटा समझें और उनका भाग उन्हें दे दें। विनोबा जी ने कहा, "दरिद्रनारायण को अपने परिवार का एक हिस्सा समझकर दान देना चाहिए। मैं तो गरीब और श्रीमान सबका मित्र हूँ। मुझे तो मैत्री में ही आनन्द आता है। जो शक्ति मैत्री में है, वह द्वेष में नहीं। अनेक राजाओं ने लड़ाइयाँ लड़कर जो क्रांतियाँ नहीं की, वे बुद्ध, ईसा, रामानुज आदि ने की। इनमें से एक–एक आदमी ने जो–जो काम किया, वह अनेक राजाओं ने मिलकर नहीं किया, अर्थात प्रेम और विचार की तुलना में दूसरी कोई शक्ति नहीं है। इस वास्ते बार–बार समझाने का कोई काम पड़े तो भी मैं तैयार हूँ। समझाना ही मेरा काम है। जब तक मैं कामयाब नहीं होता, होऊंगा नहीं। निरंतर समझाता ही रहूँगा।"[8]

विनोबा जी ने यह भी कहा था कि मैं हवा पैदा करना चाहता हूँ। क्या वह ऐसा नहीं कर सके? क्या वह अपने मिशन में नितांत असफल ही हुए? क्या आज सारे देश का ध्यान भूमि–समस्या की ओर नहीं लगा हुआ है? 'भूमि हथियाओं' आंदोलन उचित हो या अनुचित, लेकिन क्या वह विनोबा की बात अच्छी तरह न सुनने का ही परिणाम नहीं है? आज सरकार का ध्यान भूमिहीनों में भूमि बाँटने की ओर गया है। उसका कारण क्या ये आंदोलन ही नहीं रहे हैं?

भूदान एक ऐसा क्रांतिकारी विचार है, जो अध्यात्मिक जगत से संबंध रखते हुए एक जटिल भौतिक समस्या को सुलझाने का भी उपाय है। आज विज्ञान के युग में भी भूमि अधिकांश जन–साधारण के जीवनयापन का साधन है। कम–से–कम हमारे देश में

तो ऐसा है ही। जीविका के इस प्रमुख साधन के वितरण में जो असमानता है, वह शेष सब प्रकार की असमानताओं का मूल कारण है। देखने में भूदान एक साधारण–सा आंदोलन जान पड़ता है, किंतु इसे ठीक से समझने में इसका वास्तविक महत्व ध्यान में आ सकता है। वर्तमान असमानता को दूर करने का सहज और स्वाभाविक उपाय, जो भारतीय परंपरा से सुसंगत भी हो विनोबा जी जैसे तत्वदर्शी महापुरूष ही जान सकते थे। उनकी यह धारणा की भूमि वास्तव में दैवी संपत्ति है और भगवान की देन है और इसलिए इसका वितरण सबकी आवश्यकता के अनुसार ही होना चाहिए, एक क्रांतिकारी विचार है। भूमिदान–आंदोलन ने जिस विचारधारा को प्रचलित किया है, उसके कारण सम्पत्तिदान को भी प्रोत्साहन मिला है। धनी लोग स्वेच्छा से गरीब लोगों के सहायतार्थ संपत्ति भेंट कर रहे हैं। इस प्रकार जो संपत्ति प्राप्त हुई है, उससे दरिद्रवर्ग को कितनी मात्रा में सहायता मिली, केवल यही जान लेने से इस क्रांतिकारी–आंदोलन के महत्व का अनुमान नहीं लग सकता। इस विचार का वास्तविक महत्व जन–साधारण की प्रवृत्ति में परिवर्तन लाना है। अहिंसा के सिद्धांत को दैनिक जीवन में उतारने का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

किसी भी आंदोलन की समीक्षा का अर्थ उसके हानि–लाभ, सफलता–विफलता तथा परिणामों का हिसाब निकलना नहीं है। श्रद्धापूर्ण तटस्थ अध्ययन से आलोक प्राप्त होता है। भूदान यज्ञ मानवी क्रांति का एक प्रकाश स्तंभ है। एक प्रकाश स्तंभ से एक सीमा तक प्रकाश मिलता है। कोई भी आंदोलन अखंड ज्योति नहीं है। भूदान यज्ञ का तेज आज नहीं है, पर इतिहास पर शिलालेख अंकित है। यज्ञ की विभूति की पवित्रता प्रेरक है। अध्येता अपने–अपने चश्मे में देखने के लिए स्वतंत्र है। देखने वाले के प्रभाव से दृश्य नहीं बदलता है। भूदान यज्ञ का साकार रूप उसके लिए अमिट है। जिसको जमीन का एक टुकड़ा मिला। उस टुकड़े से उसकी रोटी जुड़ी है। कई भूदान किसान जिन्हें मिट्टी का तिलक लगाकर जमीन का प्रमाण पत्र मिला वे अब नहीं रहे, किसी की तीसरी पीढ़ी है उनके लिए आज भी भूदान शब्द साकार अर्थ रखता है। आंदोलन

के श्रद्धा से देखने का कभी यह अर्थ नहीं कि हम उन बिन्दुओं को नहीं देखें जिनके कारण उसकी गति, प्रभाव और परिणाम प्रभावित हुआ है।

जब हम कहते हैं कि भूदान में 42 लाख एकड़ जमीन मिली तो एक विराट दर्शन होता है, पर जब हम इसका अनुमान लगाते हैं कि 5 करोड़ के लक्ष्य में मात्र 8.4 प्रतिशत पूरा हुआ तो 42 लाख छोटा दीखने लगता है और जब आंकड़ा सामने आता है, "कि 9 लाख 65 हजार 3 सौ 68 परिवार को 18 लाख 7980576 एकड़ जमीन मिली तो पुनः एक विराट रूप सामने आता है। देश की सभी राज्य सरकारें मिलकर जितनी जमीन भूमिहीनों में बाँट सकी उससे थोड़ी ज्यादा ही जमीन बेजमीनों को भूदान से मिली।"[9]

भूदान आंदोलन में दान और वितरण साथ–साथ नहीं चल पाए, यह आंदोलन के लिए घातक सिद्ध हुआ। "भू वितरण का काम बड़ा और पेचीदा बन गया। 1966 के बाद भूदान माँगने का काम प्रायः बंद हो गया था। इसके बाद तीस वर्ष बीत गए, भू वितरण का काम पूरा नहीं हो सका। सरकार भूदान यज्ञ कानून के अंतर्गत भूदान कमेटी गठन करती थी, भू वितरण कार्य के तंत्र में आरंभ में भावनाशील लोग थे, बाद में जमीन मापने वाले सरकारी अमीन, कार्यालय सहायकों आदि की नियुक्ति हुई। भूदान का ढाँचा सरकारी हो गया। वितरण में अपने पराये के साथ–साथ भ्रष्टाचार का प्रवेश भी हो गया। बाबा के नियमों की अनदेखी हुई संस्था ने भी आश्रमों के नाम पर बड़े–बड़े भूखंड लिए।"[10]

इन सब कारनामों के कारण भूदान कलंकित हो गया। भूदान का काम बदनाम होने लगा। जगह–जगह विनोबा के नाम से पैसा इकट्ठा करने, आश्रम खड़ा करने आदि के बहाने, इसे भी एक पंथ का रूप दे दिया गया। इससे समाज में सर्वोदय कार्यकर्ताओं की हैसियत गिरी, पर यह अनहोनी नहीं समीक्षक न भूले कि ऐसे बड़े काम में इतनी सी गंदगी अस्वाभाविक नहीं है। सर्वोदय के लोग भी समाज से ही आए। वे स्वयं पवित्र रहने का प्रयत्न करते भी रहे तो भी परिवर्तन और समाज का कुछ न कुछ दबाव आता है।

भूदान के आरंभ के दिनों में राजनीति का जाल तैयार होता रहा है। "बाबा" को तेलंगाना ले जाने में गरीबों के प्रति दयाभाव नहीं था मुख्य ध्येय शांति स्थापना की थी। गरीबों की आवाज को भूमिवान शक्ति और शासन की बंदूक में दबाने में असफल हो गया था। तेलंगाना, वारंगल आदि क्षेत्रों में दस लाख एकड़ जमीन भूमिवानों से छीनी जा चुकी थी, उसे बचाने के लिए इन लोगों ने बाबा का उपयोग किया, "उस समय वहीं कांग्रेस के स्वामी रामानंद तीर्थ जैसे रचनात्मक कांग्रेसी नेता बाबा की तेलंगाना यात्रा में नहीं थे। उनका मानना था कि तत्कालीन राजस्व मंत्री अपने लोगों की जमीन और अपनी गद्दी बचाने के लिए बाबा को तेलंगाना ले जा रहे हैं। पर बाबा को इस दाँव पेंच से क्या लेना देना वे तो हरि का काम मानकर आग में कूद गए थे। स्वार्थियों की नीयत तो तब स्पष्ट हो गयी जब रामचन्द्र रेड्डी को उनके बहनोई कर्मठ कम्युनिस्ट नेता के खिलाफ चुनाव में खड़ा कर दिया। रामचन्द्र रेड्डी को भारत में प्रथम दाता का तो श्रेय प्राप्त हुआ पर वे चुनाव हार गए। इससे स्पष्ट होता है कांग्रेस की नीयत के प्रति स्थानीय लोगों का विश्वास नहीं था।"[11]

जिन दिनों देश में भूदान आंदोलन का दौर चल रहा था, उन्हीं दिनों देश में जोतेदारों को बेदखल करने का बुखार भी पूरे देश में कंपकंपी पैदा कर चुका था। तेलंगाना में जो हो रहा था वह भी जमीन पर जोतेदारों का हक हासिल करने का आंदोलन था।

1955–56 तक जहाँ भूदान प्राप्ति चरम उत्कर्ष पर था। बिहार में बीस लाख एकड़ से अधिक दान की घोषणा हो चुकी थी, वहीं बिहार में आदमी को छः इंच छोटा करने का हिंसक दौर आरंभ हो गया था। जगह–जगह हिंसा भड़क चुकी थी। जिन्होंने भूदान दिया, वे लोग भी अपने दान से अधिक भूमि से बँटाईदारों को बेदखल कर रहे थे। बेदखलों का क्षेत्रफल भूदान से कहीं बड़ा था। विनोबा जी को जहाँ भूदान की प्रगति और प्रेम से भूमि समस्या हल करने का भरोसा था वहीं बेदखली के चढ़ते ज्वर की भी चिंता थी। उन्होंने बेदखली के खिलाफ डटकर संघर्ष करने को कहा था।

1952 में विनोबा जी ने उत्तर प्रदेश में काश्तकारों से कहा– "जो बेदखल किए जा रहे हैं, उनसे मुझे कहना है कि इस तरह बेदखल मत होना। अपनी जगह डटे रहना। पीछे जाओगे तो भी शांति से सहन करना, यह भी एक ठंडी शक्ति है समझना कि जो मारते हैं, उनके हाथ भी थक जायेंगे।"[12] इसके बाद उत्तर प्रदेश की सरकार से विनोबा जी ने कहा– "आप के प्रांत में भूदान यज्ञ के कारण एक हवा पैदा हुई है, उसमें उल्टी हवा पैदा होने देना किसी के भी हक में ठीक नहीं है, भूमि का काम अत्यंत सौहार्द पूर्ण ढंग से हल हो सकता है, लेकिन अगर बेदखली जैसी ये बातें चली, तो किसी के हित में उसका परिणाम अच्छा नहीं होगा, ... सरकार से मैं कहूँगा कि जैसे उधर वन महोत्सव हो रहा है और इधर अंधे की तरह सरकार वन का नाश देखती रही है, वैसे ये बेदखलियाँ चलती रही हैं तो ऐसी व्यवस्थाहीनता का दर्शन ठीक नहीं।"[13]

विनोबा भावे ने जमींदारों से कहा कि "जो वर्षों से भूमि की सेवा कर रहे हैं, उसे उस भूमि से मत हटाओ, इधर मैं नौ माह से घूम रहा हूँ, पौने तीन लाख एकड़ जमीन मुझे मिली है, उससे एक हवा तैयार हुई। मानता हूँ कि जमींदार उन्मूलन की बात को जमींदारों ने सहन कर लिया, इसमें इस भूदान यज्ञ का भी असर हुआ है। जो भी हो, इधर तो उन्होंने भूदान किया और उधर नये भूमिहीन भी निर्माण करें, यह बहुत चिंताजनक बात है।"[14] बाबा ने यहाँ तक कहा कि "अगर मुझे पता चल जाये कि फलां शख्स ने मुझे भूदान दिया है, और वही शख्स उधर बेदखली कर रहा है, तो वो दान मैं नहीं लूँगा। बल्कि उसे ज्ञान दूँगा।"[15]

स्थानीय स्तर पर एक रूप, राष्ट्रीय स्तर पर दूसरा तथा जागतिक स्तर पर भूमि समस्या का एकदम भिन्न रूप सामने आता है। हमारे चिंतन में समन्वय के साथ साथ चिंतन के अनुरूप कार्यक्रम का दायित्व आता है। यह समस्या आज है। आने वाले बीस पच्चीस साल बाद क्या होगा? हमें हमारे देश की सम्पूर्ण भूमि के सामने रखकर राहत की योजना पर विचार करना होगा। अगले कुछ वर्षों में कुछ लोगों के पास मजदूर रखने लायक जमीन नहीं होगी। जिनके पास अधिक जमीन होगी मशीन

से खेती करेंगे। जमीन भी नहीं और जमीन पर काम भी नहीं। गाँवों में असुरक्षा और हिंसा, बिहार में जमीन और बेजमीन आमने–सामने सेना सजकर खड़ी है।

गाँधी जी ने कहा था कि "भारत की सुरक्षा अहिंसा और ग्रामोद्योग में है। गाँव में तेजी से दरिद्रीकरण और दरार (अलगाव) बढ़ रहा है। दोनों का रिश्ता है। सरकार की हिंसा आतंकवादियों के मुकाबले कमजोर पड़ रही है। शहरों की ओर से उपभोक्ता वस्तुओं का आक्रमण हो रहा है। देश से बाहर की पूँजी और विज्ञान का दबाव है। गाँव में खाने के लिए नहीं है और शहर में रहने के लिए नहीं है। रोजी रोजगार के लिए ग्रामोद्योग के अतिरिक्त दूसरा विकल्प दिखता नहीं है और ग्रामोद्योग टूटता ही जा रहा है। बहुराष्ट्रीयकरण हमारे चौके–चूल्हे तक आ गया।"[16]

दुनिया भर के राजनीति और समाज विज्ञान के विद्वानों का मानना है कि भारत गाँवों का देश है, गाँव खेती पर निर्भर है, खेती मुट्ठी भर लोगों के हाथ में है जिनके पास जमीन है, गाँव के लोगों को उनके कहने में रहना होता है। सब मिलाकर यह माना जाता है कि यहाँ की राजनीति पर जमीन वालों का वर्चस्व है। खेती देश की रीढ़ है, इसकी बीमार अवस्था के कारण देश में गरीबी और गरीबी से जुड़ी अन्य समस्याएं तथा हिंसा है। अब शहर की ओर ग्रामीणों का पलायन नगरवासियों की भी नींद हराम कर रहा है, फिर भी इस मूल समस्या के निदान का साहस राजनैतिक पक्ष नहीं जुटा पा रहा है। जमीन को छोड़कर अलग–अलग समस्याओं को पैबंद लगा रहे हैं।

साम्यवादी विचार का दुनियाभर में मानना है कि भूमि राष्ट्र की संपत्ति है। इस पर व्यक्तिगत मिलकियत नहीं हो सकती है, पर भारत के किसी साम्यवादी पक्ष ने अपने घोषणापत्र में यह संकल्प आज तक जाहिर नहीं किया है। जमीन के बँटवारे, जोतेदारों के हक तथा भूमि हदबंदी तक की बात कर चुप रह जाते हैं। अन्य पक्षों से इनका अपेक्षाकृत अंतर यह है कि ये लोग इसके संघर्ष में आरंभ में पूरी तरह थे बाद में चुनाव की प्रक्रिया स्वीकार कर ये भी कानून से हल करने में विश्वास करने लगे, जिन्हें इसमें विश्वास नहीं रहा वे अपने ढंग से इस संघर्ष में लगे हैं। इन्हीं में से

नक्सलवादी, मार्किसिस्ट, लेनेनिस्ट आदि अलग–अलग शाखाएँ काम कर रही हैं। इनका आपस में तालमेल नहीं है और न राष्ट्रव्यापी संगठन है। हिंसा में आस्था के कारण इन्हें कई प्रकार की कठिनाईयों का मुकाबला भी करना होता है। इससे जितनी शक्ति समस्या के समाधान में लगनी चाहिए उससे अधिक शक्ति अपने वर्चस्व, मामले मुकदमें तथा अपने को बचा रखने में खर्च होती है।

1960 के दशक तक सभी किसान आंदोलन सामंती प्रवृत्ति वाली कृषि प्रणाली के अंतर्विरोधों के कारण हुए। इसके बाद के कुछ क्षेत्रों में, जहाँ बाजार की शक्तियाँ और कीमतों ने किसान के जीवन पर प्रभाव डाला है, वहीं कृषि क्षेत्र की परिस्थितियाँ भी बदली हैं। इसी दौर में हरितक्रांति का सबसे पहले लाभ उठाने वाले राज्यों पंजाब तथा हरियाणा, कर्नाटक में कपास, गन्ना तथा संकर ज्वार आदि उगने वाले क्षेत्रों और महाराष्ट्र में प्याज, गन्ना, कपास, तम्बाकू आदि उगाने वाले क्षेत्रों के किसानों में ग्रामीण कृषक–शक्ति चेतना के साथ मजबूत होकर उभर रही है। इन क्षेत्रों में शक्तिशाली किसान संगठन उभरे हैं नवीन जागृति के नवीन स्वर सुनने को मिल रहे हैं।

पिछले दो–तीन दशकों से भारत की ग्रामीण कृषक शक्ति बदले हुए परिवेश में नव चैतन्य की नयी करवटें ले रही हैं। विभिन्न राज्यों में समय–समय पर संगठित कृषक वर्ग की संगठित आवाज उठती दिखाई दे रही है। इसी संदर्भ में तमिलनाडु में संभवत पहली बार तमिलनाडु कृषक संघ (टी.एन.वी.एस) नामक संगठन को मूर्तरूप दिया गया। यहाँ के कृषकों ने सामूहिक भूख हड़ताल और धरनों के जरिए अहिंसात्मक रूप से अपनी माँगें मनवाने के प्रयास किये।

भारत में इतिहाकारों ने किसानों को सदा ही नजरअंदाज किया है। इतिहास लेखन में किसानों की स्वतंत्र व्याख्या नहीं मिलती है। डेनीयल थारनर ने लिखा है कि "जब किसानों को समझने के लिए उन पर लिखे गए साहित्य की तलाश करते हैं तो पाते हैं कि उन्हें या तो जैसे–तैसे जीवन–निर्वाह करने वाले और सामंत जैसे समूहों में रखा गया है या फिर पुरातन और आधुनिक के बीच महत्वहीन छोटी इकाइयों का

दर्जा मिला हुआ है। भारत को यूरोप के नजरिये से देखने के कारण किसानों को मृतप्राय मानकर उन्हें औद्योगिक मजदूरों और उद्योग मालिकों के दो विरोधी खेमों में डालना समाजशास्त्रियों की आम लेखन–शैली है। भारतीय इतिहासकारों की इन धारणाओं के परिणामस्वरूप किसानों की जीवन शैलियों, उनके आंदोलनों एवं तमन्नाओं की कभी परवाह नहीं की गयी। इतिहास के इस अधूरेपन के कारण किसानों के आंदोलन का सही आकलन नहीं हुआ।"[17]

स्वाधीन भारत के सुखद स्वप्नों में किसान बहुत समय तक डूबा रहा। देश में अनेक नेताओं ने अपने कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिए कई प्रयास किए हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में किसानों को जाग्रत कर नयी दिशा देने का श्रेय पूर्व प्रधानमंत्री चौधरी चरणसिंह को जाता है, उन्होंने छोटी–छोटी जातियों के किसानों की राजनीतिक आकांक्षाओं को ऊँचा उठाया। हरियाणा में भी किसान आंदोलन तूफान की तरह उठा और आँधी की तरह चला गया। इससे किसान शक्ति को ठेस लगी, लेकिन वर्तमान में श्री महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्त्व में किसानों ने अपनी मजबूत संगठन शति का परिचय दिया है। पूर्व में हुए सभी आंदोलनों की तरह इस आंदोलन में किसान यूनियन के मंच पर हिन्दू, मुस्लिम तथा अन्य सभी धर्मों एवं जातियों के किसानों ने भाग लिया। इन आंदोलनों का दुःखद पहलू यह है कि किसान नेताओं ने अपनी–अपनी खिचड़ी अलग–अलग पकाकर भारत की किसान शक्ति को कभी एक मंच पर एकत्र नहीं होने दिया। चूँकि भारतीय किसान सदैव से प्रगतिशील तथा क्रांतिकारी रहा है, वह फिर एक ताकत के रूप में उभर सकता है। उसके लिए किसान नेताओं को अपने चिंतन तथा कार्य की दिशाएँ बदलनी होगी। किसान शक्ति को जितना अंदर से खतरा है उतना बाहर से नहीं। भारत सरकार ने अभी हाल में अपनी आर्थिक व्यापारिक एवं औद्योगिक नीतियों में भारी परिवर्तन किये हैं। यदि समय रहते किसान नेता, अपनी दिशा नहीं बदलते तो इस बात की संभावना हो सकती है कि शोषित, क्षुब्ध, पीड़ित दरिद्र और असंतुष्ट किसान ऊपर से क्रांतिकारी तथा यथार्थ में प्रतिक्रियावादी तत्वों के पीछे लग जाय। अब समय आ चुका है जबकि किसानों को संगठित होकर अपनी

अथाह शक्ति को पहचानकर भूतपूर्व प्रधानमंत्री एवं श्री लाल बहादुर शास्त्री के 'जय जवान जय किसान' के इस महान स्वप्न को सार्थक करने हेतु जुट जाना चाहिए।

साहित्यिक रचना एक सामाजिक कर्म है और कृति एक सामाजिक उत्पादन, लेकिन साहित्य की रचना व्यक्ति करता है, इसलिए समाज से साहित्य के संबंध को समझने के लिए समाज से रचनाकार व्यक्ति के ठोस ऐतिहासिक संबंध की समझ आवश्यक है जिसे भी सामाजिक या व्यक्तिवादी साहित्य कहा जाता है उसका भी समाज से एक तरह का संबंध होता है। अधिकांश साहित्यिक समाजशास्त्री मानते हैं कि किसी रचना की अंतर्वस्तु में ही समाज नहीं व्यक्त होता। रचना के हर स्तर पर अर्थात् उसकी अंतर्वस्तु, संरचना, शिल्प और भाषा में समाज की अभिव्यक्ति होती है, यहाँ सवाल है रचना की उस विशेषता को पहचानने का जो उसकी संपूर्णता में समाज की खोज में मदद करे। कथाकार के पास कुछ कहने को होता है– एक कथ्य, जिसके लिए वह एक कथानक के जरिए कहानी कहता है। उस काव्य में विशिष्टता तब पैदा होती है जब पाठक को लगे कि उसे उपन्यास के सिवा किसी और दूसरे तरीके से नहीं कहा जा सकता था।

'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास पढ़ते समय पाठक के मन में पहला सवाल पैदा होता है कि लेखक आखिर कहना क्या चाहता है? उपन्यास के अंत में एक 'परिशिष्ट' है, जिसे पढ़कर लगता है कि वह वर्तमान जटिल भूमि–समस्या के संदर्भ में भूदान एवं ग्रामदान आंदोलन की निरर्थकता प्रमाणित करना चाहता है। भूदान आंदोलन की 'पृष्ठभूमि' की ओर पुस्तक का आवरण भी इशारा करता है। पर पाठक 'परिशिष्ट' और आवरण की सलाह मानने में अत्यंत कठिनाई महसूस करता है उसे भूदान एवं ग्रामदान आंदोलन की उपस्थिति के बावजूद उपन्यास में कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह का चरित्र केन्द्र में दिखाई पड़ता है। तो क्या उपन्यास की संरचना में कोई दरार है? रचनाकार के नियोजित या अभिप्रेत कथ्य से छिटक जाना कई बार रचना की ताकत का सबूत होता है, क्या यहाँ ऐसा है?

उपन्यास के आवरण पर जो परिचय दिया गया है, उसमें लिखा है भूदान आंदोलन पर लिखी गयी यह पहली महत्वपूर्ण कृति है। मुझे लगता है कि यह उपन्यास का एक पक्ष है। भूदान आंदोलन में विरोधाभास और विडम्बनाएँ एक जानकार आदमी की तरह दिखाई गयी हैं। पर यह बात गले से नहीं उतरती। प्रसिद्ध वकील और ताल्लुकेदार जयंतीप्रसाद सिंह के बेटे विवेक की इस टिप्पणी से असहमति नहीं कि "विनोबा भावे मामूली संत नहीं हैं। उन्होंने भूदान आंदोलन नाम के हथियार की ईजाद की है। उसके पहले ही वार में एक तरफ तेलंगाना में साम्यवाद अधमरा होकर गिर गया, दूसरी तरफ बिहार और उत्तर प्रदेश में गाँधीवाद के हाथ–पाँव टूट गये।"[18] यह एक महत्वपूर्ण वक्तव्य है पर उपन्यास में इसका प्रतिफलन नहीं होता। केवल यहाँ वहाँ उल्लेख भर है। परिशिष्ट में अलबत्ता उस आंदोलन का मय आँकड़ों में विवेचन किया गया है। यह सारी कसरत 'बिस्रामपुर का संत' को भूदान आंदोलन पर लिखी गयी प्रामाणिक कृति साबित करने के लिए की गयी मालूम पड़ती है तो ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि जो बात उपन्यास नहीं कह पा रहा है उसे कहने के लिए उपन्यासकार उपन्यास में वे सभी जानकारियाँ सूचनाएँ झोंक रहा है। हालाँकि यह काम हर उपन्यासकार किसी–न–किसी रूप में करता है पर वह उपन्यास के विकास में ही खपाने की कोशिश करता है।

उपन्यास में आयी इस विश्रृंखलता का कारण है। भूदान आंदोलन की इस कृति को भूदान आंदोलन की प्रामाणिक कृति बनाने के लिए उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में मजबूत और प्रभावशाली परंतु भूदान की दृष्टि से नितांत कमजोर चरित्र का सहारा लिया है। उसका पूरा चरित्र एक कैरियरिस्ट किस्म के जमींदार और राजनीतिज्ञ का है। भूदान भी उसकी उसी कला का हिस्सा है इसलिए वह उपन्यास के मुख्य उद्देश्य में रचनात्मक सहयोग न दे कर उसकी प्रामाणिकता को स्खलित ज्यादा करता हुआ महसूस होता है। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह का बिस्रामपुर में जाकर अंतिम दिन गुजारना भी उनके हृदय परिवर्तन का द्योतक कतई नहीं। वह इस बात का प्रमाण है कि कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह को भूदान से कुछ लेना देना नहीं है वह तो सुंदरी के प्रति मरा

हुआ उनका आकर्षण, उसके मरने के बाद पुनर्जीवित हो उठता है। वैसे जयंतीप्रसाद सिंह का बिस्रामपुर जा कर बसना किसी वैराग्य के कारण भी नहीं है। पद और गौरव की दौड़ में पिछड़ जाने के कारण और प्रधानमंत्री द्वारा अपेक्षित प्रतिक्रिया न दिये जाने के फलस्वरूप वे ऐसा करते हैं।

कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह ने सर्वोदय के पक्ष में एक ही काम किया था। अपने दो गाँवों की बंजर भूमि का आचार्य विनोबा भावे के समक्ष सर्वोदय के लिए दान। उसके पीछे भी साफ दिल नहीं था। बल्कि अपने त्याग की धाक जमाना था। उनका दूसरा काम था अपने महल के एक हिस्से में सर्वोदय के कार्यालय की स्थापना और निर्मल भाई, सुशीला बेन और सुंदरी के रहने की व्यवस्था। कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह की खूबियों और कमजोरियों को लेखक ने पूरी गम्भीरता के साथ एक प्रभावी नायक के रूप में ढाला है। एक बात और है भूदान आंदोलन कितना ही सफल या असफल क्यों न रहा हो परंतु भूदानियों का तप, साधना, त्याग आदि न सही बहुत अधिक पर कुछ तो था ही। कुँवर साहब का चरित्र उन सब मान्यताओं और रवायतों के विरूद्ध जाता है।

मूलतः यह नायकमूलक उपन्यास है। "कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह वकील या बैरिस्टर हैं तो भी जमींदार है, पिता हैं तो भी जमींदार हैं, गवर्नर हैं तो भी राजत्व तो उनमें व्याप ही जाता है। सर्वोदय के लिए दो ग्रामदान करने जाते हैं तो भी जमींदार ही हैं। वे विनोबा जी को अपने महल की सड़क पर चलाना चाहते हैं पर वे उससे उतर कर चलते हैं यह उन्हें बर्दाश्त नहीं होता। बिस्रामपुर बसने जाते हैं तो भी उन्हें कमोड़ चाहिए, बिजली चाहिए। फोन न होना उन्हें त्रासद लगता है।"[19] 'आवारा साहब' नाम का काला कलूटा बच्चा उन्हें पसंद नहीं आता। जब वह गिर जाता है तो अपने जिस रूमाल से वे उसका मुंह नाक पोंछते हैं उसे वे अपने पास न रख कर उस आया को दे देना चाहते हैं जो उसे उठा कर ले जाती है। उनका डूबकर आत्महत्या कर लेना भी संतों का देह त्यागना नहीं बल्कि बदला भी है और विनोबा

भावे के शरीर त्यागने की भोंडी पैरोडी भी है। पर वह संत विनोबा भाव नहीं। यह देह के दुखों की कल्पना से एक तरह का पलायन है।

उपन्यास के अन्य पात्रों में निर्मल भाई का नाम भी सर्वोदय कार्यकर्ता के रूप में ऊभर कर सामने आता है। निर्मल भाई सर्वोदय आंदोलन के प्रवक्ता हैं जो त्याग का रास्ता छोड़कर सुख और योग के रास्ते पर चल पड़ते हैं। इनकी विदेश में माँग बहुत है। पर निर्मल भाई दूसरों को सर्वोदय की सुंघनी–सुंघाते अंत में अपना आत्मोदय करने लगते हैं। सुशीला से विवाह तो पहले ही कर चुकते हैं। अब बारी है धन सम्पदा बटोरने की। लिहाजा इसी भूख में वे सोने की तस्करी करते पकड़े जाते हैं और तिहाड़ जेल में मजा चखने के लिए भेज दिए जाते हैं। निर्मल भाई का चरित्र यह साबित करने के लिए काफी है कि कल के सर्वोदयी जो विनोबा की तरह लंगोटी पहनकर गुजारा करते थे, समय की मार ने उन्हें हाजी मस्तान बना दिया। एक ओर इन लोगों ने संस्थाओं को खोखला किया, विचारधाराओं की धज्जियाँ उड़ाईं तो दूसरी ओर नैतिकता, समाजसेवा की आड़ में जनता के साथ धोखा किया। विनोबा के जीवन काल में ही भूदान आंदोलन स्वाहा हो चुका था। बावजूद इसके उपन्यास के दो पात्र विवेक और सुंदरी, पाठक को अंत तक जीवन के शिखरों की ओर ले जाते हैं। सुंदरी भूदान आंदोलन की एक समर्पित कार्यकर्ता है। वह चाहती तो विवेक के साथ, सुशीला की तरह अपना घर बसाकर एक पूर्ण स्त्री का सुखी जीवन जी सकती थी। पर वह ऐसा नहीं कर सकी। वह प्रेम करना और पाना दोनों चाहती थी, पर कर्मपथ पर चलते रहने से विरत नहीं कर सकी। सुन्दरी का जीवन एक भारतीय स्त्री के समर्पण की महागाथा है। वह क्षेत्र चाहे भूदान आंदोलन का हो या दाम्पत्य जीवन का। वह जहाँ भी जुड़ती हैं पूरी निष्ठा से जुड़ती है। सुन्दरी की निष्ठाओं पर संदेह नहीं किया जा सकता। जब कुँवर जयंती प्रसाद सिंह व उनका पुत्र विवेक दोनों शादी का प्रस्ताव रखते हैं जिसे वह पूरी तौर पर नकार देती है। इस नकार के पीछे उसके कर्तव्यबोध का तर्क तो है ही साथ ही उसके सामने एक मानसिक द्वन्द्व भी है कि विवेक के पिता ने जो उसके साथ हरकत की, उसको पाने के लिए विवाह का प्रस्ताव किया इस तथ्य

को अंधेरे में रखकर वह विवेक के साथ विवाह करके नैतिक अपराध में शरीक होगी। वह विवेक से सीधे नहीं कह पाती है, लेकिन सुशीला को पत्र लिखकर सारी सच्चाई सामने रखती है। इस सच्चाई को सामने रखकर दरअसल वह अपनी नैतिकता को प्रकट करती है।

सुंदरी के बरक्स विवेक बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधि है। वह पिता से मन ही मन घृणा करता है पर उनका विरोध नहीं कर पाता। जबकि उसके पिता की उस पर टिप्पणी है: "मेरा बेटा वामपंथी है। उसकी जगह वह वाममार्गी होता तो मुझे उतनी उलझन न होती।" वामपंथियों के बारे में यह धारणा हमेशा उन नेताओं की ज्यादातर रही है जो लूटपाट की जिंदगी जीने के अभ्यस्त हैं लेकिन विवेक हमारे बौद्धिक समाज का सच्चा प्रतिनिधि है जिसे बौद्धिक विकास के साथ हमेशा समाज, देश की चिंताएँ सताए रखती हैं। वह परिवर्तनवादी है, पर प्रतिक्रियावादी नहीं। इसीलिए वह अपने पिता की सुविधा भोगी जिन्दगी को छोड़कर संघर्षशील जीवन का रास्ता चुनता है।

इस उपन्यास में सुंदरी, सुशीला, निर्मल भाई से की गयी दिलचस्प बहसें उसकी बौद्धिक सम्पदा को खोलती हैं। वैचारिक दृष्टि से यह उपन्यास का सबसे पठनीय हिस्सा है। वह अपने पिता से राजनीतिज्ञों की निर्मम आलोचना करते हुए कहता है: "बाबू जी इन राजनीतिक जंतुओं में सचमुच ही अगर कोई ऐसा दिखे जिसकी हैसियत कुत्ते से बेहतर हो तो मुझे बताइयगा। देखना चाहूँगा कि वह कैसा दिखता है।"[20]

विवेक का कहना है कि "जिस देश में सुई की नोंक भर जमीन के लिए महाभारत का युद्ध हुआ हो वहाँ सद्भाव और हृदय परिवर्तन की बात भावुकता भर है। सामूहिक हृदय परिवर्तन इतनी आसानी से नहीं होते। उसके लिए रूस जैसी व्यापक क्रांति की जरूरत होती है। यानी वह भूदान आंदोलन की विफलता पर कायम रहता है और इस आंदोलन को दुधारी तलवार बताता है। वह कहता है– "मुझे लगता है कि भूदान जैसे दाता और दानग्रहीता आंदोलन ने किसान की इस गाँधीवादी अवधारणा पर वैसी ही चोट की है जैसी कि साम्यवादी संघर्ष पर।"[21]

इन बहसों से प्रकट होता है कि हिन्दुस्तान का वामपंथी बुद्धिजीवी भूदान आंदोलन को व गाँधीवाद को महज एक कर्मकाण्ड ही मानता है, विवेक का अर्थशास्त्र यही सोचता है। विवेक, सुंदरी से प्रेम करता है। पर वह अपने पिता की तरह छल भरा प्रस्ताव नहीं रखता। बल्कि सुंदरी के सामने विवाह प्रस्ताव रखते हुए वह बेलाग कहता है– "देखो सुंदरी, हम दोनों के सामने बहुत काम है। हम बहुत व्यस्त व्यक्ति हैं, एक दूसरे के बारे में सोचकर हमें वक्त नहीं गंवाना चाहिए... इससे अच्छा है कि हम लोग शादी कर लें और उसके बाद निश्चिंत होकर अपने कर्मक्षेत्र में जुट जायें। विवेक प्रेम के बौद्धिक धरातल पर जीता है। जब सुंदरी उसके प्रस्ताव का कोई जवाब नहीं देती तब भी वह उसे विवश नहीं करता। उसके लिए विवाह दो जने के बीच की जिन्दगी को शेयर करने का एक ढंग है। बस कुछ नहीं। उसके सामने जब सुशीला सुंदरी से विवशता की बात कहती है और उससे अपनी सहानुभूति प्रकट करती है, उस समय विवेक का वक्तव्य उसकी जिन्दगी के अर्थ और उसके नजरिये को उद्‌घाटित करता है– तुम ट्रेजडी को नहीं समझती तभी ऐसा कह रही हो, ट्रेजडी एक भयावह चीज है। किसी से प्रेम हो और उससे शादी न हो पाये, यह ट्रेजडी नहीं है। आज की सामाजिक व्यवस्था में जिन्दगी के हजार क्लेशों में यह एक क्लेश भर है। ज्यादा से ज्यादा कुछ लम्बे दौर का न्यूसेंस है... ट्रेजडी से लेकर अब मुझसे कभी ऐसी हल्की बात मत करना।

इस उपन्यास का एक व्यापक सामाजिक–राजनीतिक संदर्भ है दूसरा वैयक्तिक–आंतरिक पक्ष सही है कि यह भूदान आंदोलन को केन्द्र बनाकर लिखी गई पहली महत्वपूर्ण कृति है जिससे भू–समस्या पर अनेक कोणों से दृष्टि डाली गई है। पर ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें लेखक ने बड़ी ईमानदारी से इस आंदोलन की शव–परीक्षा की है इस काम के लिये उन्होंने कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह के वामपंथी बेटे विवेक को माध्यम बनाया है। आचार्य की मूल योजना को वह हथियार से अधिक कुछ नहीं समझता। भूदान आंदोलन के अवसान के बाद निर्मल भाई, सुशीला, सुंदरी की स्थिति जैसे भूदान युग के भग्नावेशों की हो गई है और कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह

का जीवन तो उनके वर्ग के बहुत से दूसरे व्यक्तियों जैसा ही था आत्मकेन्द्रित, सिर्फ अपने लिए जीने वाले ऐसे लोग जो परिवार वालों को भी अपनी जीवन–शैली में ढला हुआ देखना चाहते हैं। पर अपने छोटे–छोटे– अहंकारों, छोटी–छोटी महत्वाकांक्षाओं के लिए जाने–अनजाने एक–दूसरे को ठेलते–धकियाते, दूसरों से आगे निकल जाने की कोशिश करते इन लोगों के पास भी एक अन्तर्मन होता है। इस मन की गहराइयों में झाँकने की कोशिश ने इस उपन्यास को एक स्तर पर बहुत मानवीय मार्मिक और करूण बना दिया है।

विनोबा जी का यह आंदोलन इस शताब्दी के छठे और सातवें दशक में एक सशक्त आंदोलन के रूप में विकसित हुआ, वैसे भूदान यज्ञ का सबसे महत्वपूर्ण चरण छठे–दशक का है। "1964 तक भूदान के रूप में भूमिहीनों के निमित्त 42 लाख एकड़ से अधिक जमीन मिल चुकी थी। 31 जुलाई 71 तक 1,68,000 से ऊपर गाँव ग्रामदानी बन चुके थे। इस अभूतपूर्व आंदोलन के विषय में राजनीति शास्त्रियों और अर्थशास्त्रियों के विचार, स्वाभाविक है, एक से नहीं है। एक और इसे हिंसा और लोभ के ऊपर सौहार्द और सहज मानवीय उदारता की विजय के रूप में देखा गया है और इस रूप में उसे सामाजिक विषमता के निवारण का एक अमोघ अस्त्र समझा गया है, दूसरी ओर इसे प्रगतिविरोधी, क्रांतिविरोधी और बड़े भू–स्वामियों का पोषक मानकर इसकी उपेक्षा की गयी है।[22] जो भी हो, दीर्घकालीन अनुभव से– जिसे पहले भी देखा जा सकता था यह प्रकट हो गया है कि यह आंदोलन गाँवों में एक जटिल आर्थिक और सामाजिक दुर्व्यवस्था का कोई उल्लेखनीय व्यावहारिक और स्थायी समाधान नहीं दे पाया है। इसकी प्रमुख उपयोगिता ग्रामीण नागरिकों में कुछ समय के लिए अपने समाज के प्रति उनके दायित्त्व–बोध को सजग भर करने में रही है। ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था में संतुलन और विकास के लिए कृषि और भूमि–सुधार के क्षेत्र में एक प्रगतिशील शासन–तंत्र को जो सुनियोजित कदम अनिवार्यतः उठाने चाहिए, उनके विकल्प के रूप में इसे नहीं देखा जा सकता। बिहार का उदाहरण इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए काफी है।

"आँकड़ों के अनुसार भूदान और ग्रामदान के क्षेत्र में बिहार देश के राज्यों में सबसे आगे रहा है। 1964 तक पूरे देश में भूदान से प्राप्त 42.27 लाख एकड़ भूमि में 21.33 लाख एकड़ अकेले बिहार का हिस्सा है। उसी प्रकार जुलाई, 71 तक पूरे देश के 1.68 लाख ग्रामदानी गाँवों में लगभग 60,000 गाँव बिहार के हैं।"[23]

फिर भी, आज तक छोटे किसानों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की दशा बिहार में, दूसरे राज्यों के मुकाबले, संभवतः सबसे ज्यादा विषम है और भूदान जैसे शांतिपूर्ण और उदात्त आंदोलन में अग्रणी रह चुकने के बावजूद बड़े भू–स्वामियों के खूँखार संगठनों का भयावह विस्तार तथा छोटे किसानों और खेतिहर मज़दूरों के पक्षधर हिंसक संगठनों का परिदृश्य सबसे ज्यादा हमें वहीं देखने को मिल रहा है।

संदर्भ

1 निर्मलचन्द्र, भूमि समस्या और भूदान, भूमिका

2 का. सा. कालेलकर, विनोबा व्यक्तित्व और विचार, पृ.285

3 वही, पृ.286

4 वही, पृ.286

5 वही, पृ.286

6 वही, पृ.287

7 वही, पृ.287

8 वही, पृ.268

9 निर्मलचन्द्र, भूमि समस्या और भूदान–, भूमिका, पृ.100–101

10 विस्तार के लिए देखें, उप. पृ.101–102

11 वही, पृ.104

12 वही, पृ.105–106

13 वही, पृ.106

14 वही, पृ.106

15 वही, पृ.106

16 वही, पृ.148

17 संपादक – ईश्वरी प्रसाद, भारत का किसान आंदोलन, पृ.15–16

18 श्रीलाल शुक्ल, बिश्रामपुर का संत, पृ.174

19 सं.– अखिलेश तद्भव, मार्च 1999, पृ.187

20 उत्तर प्रदेश, जनवरी 1999, पृ.20

21 वही, पृ.20

22 श्रीलाल शुक्ल, बिश्रामपुर का संत (उपन्यास), पृ.207

23 वही, पृ.208

उपसंहार

भारत की ग्रामीण जनता की जीविका का मुख्य स्रोत कृषि–कर्म है। यहाँ की आबादी में किसानों की कई श्रेणियाँ हैं पर मोटे तौर पर उन्हें दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। एक श्रेणी में वे किसान आ जाएंगे जिनके पास पर्याप्त कृषि योग्य भूमि है। इस श्रेणी में कुछ लोगों के पास तो हजारों एकड़ तक भूमि है और कुछ लोगों के पास बिलकुल भूमि नहीं है। ऐसे लोग बड़ी जोत वाले किसानों की जमीन पर खेती करके या उनके यहाँ मजदूरी करके गुजर–बसर करते हैं। इसी श्रेणी में कुछ ऐसे किसान हैं जिनके पास बहुत कम जमीन है और व्यवस्था के शिकंजे में वे 'होरी' बनने पर मजबूर हैं। ऐसी असमानता सामाजिक असंतोष को बढ़ावा देती है। इसी कारण यहाँ कई बार हिंसक आंदोलन भी होते रहे हैं। ऐसे आंदोलनों से इस समस्या का समाधान तो नहीं निकला है केवल अशांति और भय का वातावरण ही सृजित हुआ है। ऐसे में भूदान आंदोलन एक नया सामंजस्य का दर्शन लेकर सामने आया। यह हृदय परिवर्तन की गांधीवादी विचारधारा पर आधारित था। यह मूलतः आदर्शवादी ज्यादा और व्यावहारिक कम था। भूदान आंदोलन की असफलता इतिहास के पृष्ठों में दर्ज है। भूदान आंदोलन क्यों असफल हुआ व्यावहारिक रूप से उसमें क्या–क्या कमियाँ थीं इन सबका दर्शन 'बिस्रामपुर का संत' की अन्तर्यात्रा करने पर सहज ही ज्ञात हो जाता है।

भूदान आंदोलन के मुख्यतः तीन आधार स्तम्भ थे। पहला उसका दर्शन, दूसरे भूस्वामी और तीसरे कार्यकर्ता। वैसे तो भूदान आंदोलन का दर्शन एक आदर्शवादी दर्शन था। जो व्यावहारिक रूप में परिणत होने के लिए भू–स्वामियों और भूदान कार्यकर्ताओं पर पूर्णतया निर्भर था। कार्यकर्ता एवं भूस्वामी अपनी इस भूमिका को निभाने में असफल रहे फलस्वरूप यह आंदोलन व्यवहारिक स्तर पर सफल नहीं हो सका। इसके उदाहरण उपन्यास में यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं। जैसे की उपन्यास के मुख्य पात्र कुँवर जयंतीप्रसाद सिंह वाहवाही लूटने वाले ऐसे ही पात्र हैं। उपन्यास के माध्यम से रचनाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भूदानियों का असली लक्ष्य मात्र स्वार्थ सिद्धि था। दूसरे स्तम्भ के रूप में भूदान आंदोलन के कार्यकर्ताओं को मुख्य रूप से रखा गया है। इसमें भी दो प्रकार के लोग हैं एक तो वे जो त्याग की मूर्ति बने हुए हैं। उदाहरण स्वरूप उपन्यास के मुख्य पात्रों में सुंदरी, विवेक और दूसरे वे जिन्होंने बाद में भूदान आंदोलन को वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बना लिया। ऐसे लोगों का क्या हस्र

हुआ. इसे निर्मल भाई के चरित्र से समझा जा सकता है। निर्मल भाई को अपने कर्मों–कुकर्मों के लिए अंततः तिहाड़ जेल की हवा खानी पड़ी। इसमें मुख्य बात यह रही है कि इस आंदोलन का स्थानीय नेतृत्व व संरक्षण त्यागी कार्यकर्ताओं के बजाय स्वार्थी लोगों के पास ही रहा निर्मल भाई और जयंतीप्रसाद सिंह ऐसे ही लोग थे जैसा कि हमने पूर्व में तीन स्तम्भों का जिक्र किया। उन तीनों में सामंजस्य नहीं था उसमें से दो स्तम्भ कार्यकर्ता और भूस्वामी जिनकी नियत में खोट था अंततः वे भूदान आंदोलन के दर्शन को जो स्वयं अपने आप में कम व्यवहारिक था, ले डूबे।

'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास के पात्र अपने माध्यम से भूदान आंदोलन की विफलता की गाथा रचते हुए नजर आते हैं। यदि इस आंदोलन के कार्यकर्ताओं की नब्ज पकड़ी जाए तो वह रोग मालूम पड़ जाता है जिसके कारण भूदान आंदोलन न सिर्फ अप्रासंगिक हो उठा वरन् काल कवलित भी हो गया। उपन्यासकार ने अपनी पैनी दृष्टि से भूदान आंदोलन की तमाम अच्छाइयों और बुराइयों को उघाड़कर नग्न सच्चाई का दर्शन करा देने में पूर्णतः सफल हुआ है।

भारतीय कृषि की वर्तमान में भी लगभग वही समस्या है जो भूदान आंदोलन के प्रारंभ होने से पहले थी। उनका स्वरूप बदल गया है। भारतीय किसान वर्तमान में भी लगभग उन्हीं समस्याओं से टकरा रहा है. जो भूदान जैसे आंदोलनों से पूर्व विद्यमान थी। या यों कहें कि जिनके कारण ऐसे आंदोलनों की जमीन तैयार हुई। एक बड़े उद्देश्य को लेकर भूदान आंदोलन शुरू हुआ था पर उसकी परिणति असफलता में हुई। इसकी असफलता से किसानों के आंदोलन बंद हो गए है. ऐसा नहीं है। हाँ यह जाहिर है कि भूदान आंदोलन के यज्ञ में सबसे अधिक आहुति बिहार राज्य से दी गई थी लेकिन आज बिहार में भूमि की जोत को लेकर सामूहिक नरसंहार होना आम बात है। यही है भूदान आंदोलन की उपलब्धि। उदारीकरण के वर्तमान दौर में किसान की समस्यायें किस कदर बढ़ी हैं और उनकी क्या स्थिति है यह बात अब कोई अबूझ पहली नहीं रह गई है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

श्रीलाल शुक्ल – **बिस्रामपुर का संत**, दूसरी आवृत्ति, 2000
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली–110002

सहायक पुस्तकें

आनन्द कुशवाहा (अनुवाद और संकलन) – **भारत में किसान संघर्ष 1756–1975**
(मूल लेखक– क्रिस्टियन सिग्रिस्ट, अमलेंदु गुहा, गेरहार्ट हाउक, वी सर्मा मार्ला) प्रकाशक – दि मैक मिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड नई दिल्ली, कलकता, बंबई, मद्रास।

ईश्वरी प्रसाद – **भारत का किसान आंदोलन**,
ग्रामीण साहित्य माला, 158, उत्तराखंड, ज.ने.वि.
नई दिल्ली–110067

काका सा. कालेलकर – **विनोबा व्यक्तित्व और विचार**,
पहला संस्करण, 1971, प्रकाशक– मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

निर्मल चन्द्र – **भूमि समस्या और भूदान**
(प्रथम संस्करणः मार्च 1997) गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।

बिपिन चन्द्र – **आज़ादी के बाद का भारत 1947–2000**,
प्रथम संस्करण, 2002
हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

बिपिन चन्द्र – **भारत का स्वतंत्रता संघर्ष**
हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

बी.एल. ग्रोवर (यशपाल) – **आधुनिक भारत का इतिहास**,
पन्द्रहवा संस्करण, 2000, एस. चन्दा एण्ड कं.,
रामनगर, नई दिल्ली

विनोबा भावे – **अहिंसा की तलाश**, (संकलन–संपादन– कालिन्दी) सत् साहित्य सहयोगी संघ, 'गांधी दर्शन', नुमाईश मैदान, हैदराबाद' 50001 (आंध्र प्रदेश)

विनोबा भावे – **आत्मज्ञान और विज्ञान**, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी

विनोबा भावे – **ग्राम–दान**, (संस्करण– अक्टूबर 1959) मंत्री, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ, वर्धा, (बम्बई राज्य)

विनोबा भावे – **लोक नीति**, सर्वसेवा संघ राजघाट, वाराणसी, 1969

विनोबा भावे – **विनोबा साहित्य**, भाग–13 (पत्र–मंजूषा), 1995, भाग–15 (आरोहण) 1996, भाग–18 (साम्ययोगी समाज– आर्थिक विचार, खाड़ी, गो–सेवा आदि), 1998, प्रकाशक– रणजित, देसाई, परधाम प्रकाशन, ग्रामसेवा मंडल, पवनार, वर्धा, 4421111

विनोबा भावे – **सर्वोदय विचार और स्वराज्यशास्त्र**, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी

विश्वनाथ टंडन – **आचार्य विनोबा भावे** (प्रथम संस्करण– अप्रैल, 1997), निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली–110001

वीर भारत तलवार – **किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचन्द**, 1918–22, नार्दन बुक सेण्टर, नई दिल्ली, 1990

शंकरराव देव – **सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र**, प्रकाशक– अखिल भारत सर्व सेवा संघ, प्रकाशन राजघाट, काशी।

श्री कृष्ण दत्त भट्ट — **बाबा विनोबा**,
प्रकाशक, मंत्री, अखिल भारत सर्व सेवा संघ,
राजघाट, काशी।

सुबह सिंह यादव — **ग्रामीण विकास के नये क्षितिज**,
(प्रथम संस्करण, 1994),
मानक पब्लिकेशन्स प्रा. लिमिटेड, जी–19, विजय
चौक, लक्ष्मीनगर, दिल्ली–110092

सुमित सरकार — **आधुनिक भारत**,
पहला छात्र संस्करण, 1992,
प्रकाशक– राजकमल, प्रकाशन प्रा. लि. 1–बी,
नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002

सुरेश रामभाई — **संत विनोबा की आनन्द यात्रा**,
अ. वा. सहस्र, बुद्धे, मंत्री, अखिल भारत सर्व सेवा
संघ वर्धा, (मध्य प्रदेश)

हरिश चन्द्र वर्मा — **मध्यकालीन भारत**, भाग–2,
हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993

ज्ञानवती दरबार — **विनोबा की ज्ञान गंगा में**,
संस्करण, 1961, संचालक, रंजन प्रकाशन,
7, टॉल्स्टाय मार्ग, नई दिल्ली।

पत्रिकाएं

उत्तर प्रदेश, जनवरी, 1999

कसौटी, जुलाई–सितम्बर, 1999, संपादक – नन्द किशोर नवल

तद्भव, मार्च, 1999, संपादक – अखिलेश

हंस, मई, 2000, संपादक – राजेन्द्र यादव